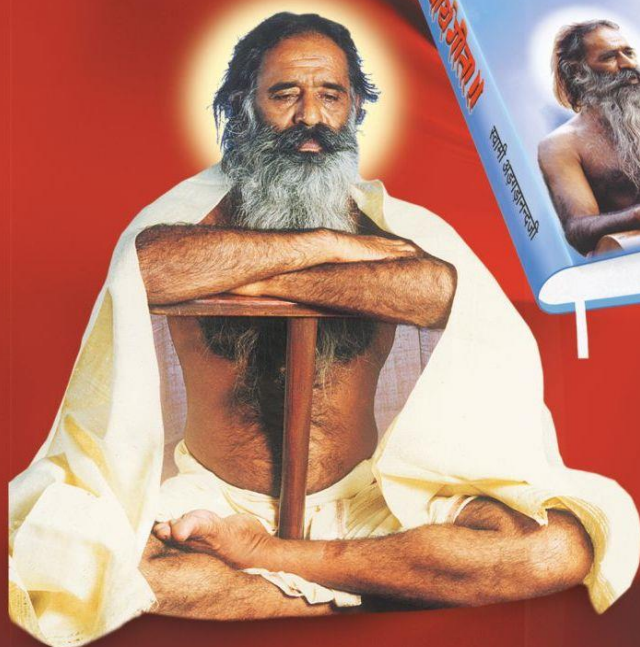
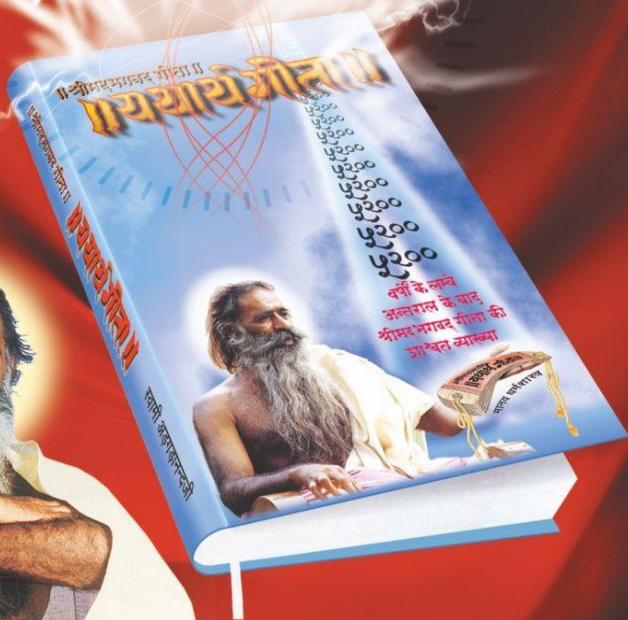


प्रश्न समाज के - उत्तर गीतासे

श्रीमद्भगवद्गीता

भाष्य

॥ यथार्थगीता ॥



स्वामी अड़गड़ानन्दजी

॥ॐ नमः सद्गुरुदेवाय॥

श्रीमद्भगवद्गीता भाष्य 'यथार्थ गीता'
प्रश्न समाज के - उत्तर गीता से

व्याख्याकार :

परमपूज्य श्री परमहंस महाराज का कृपा-प्रसाद

स्वामी श्री अड़गड़ानन्द जी

श्री परमहंस आश्रम

ग्राम-पत्रालय - शक्तेशगढ़, जिला - मिर्जापुर

उत्तर प्रदेश, भारत

फोन : (०५४४३) २३८०४०

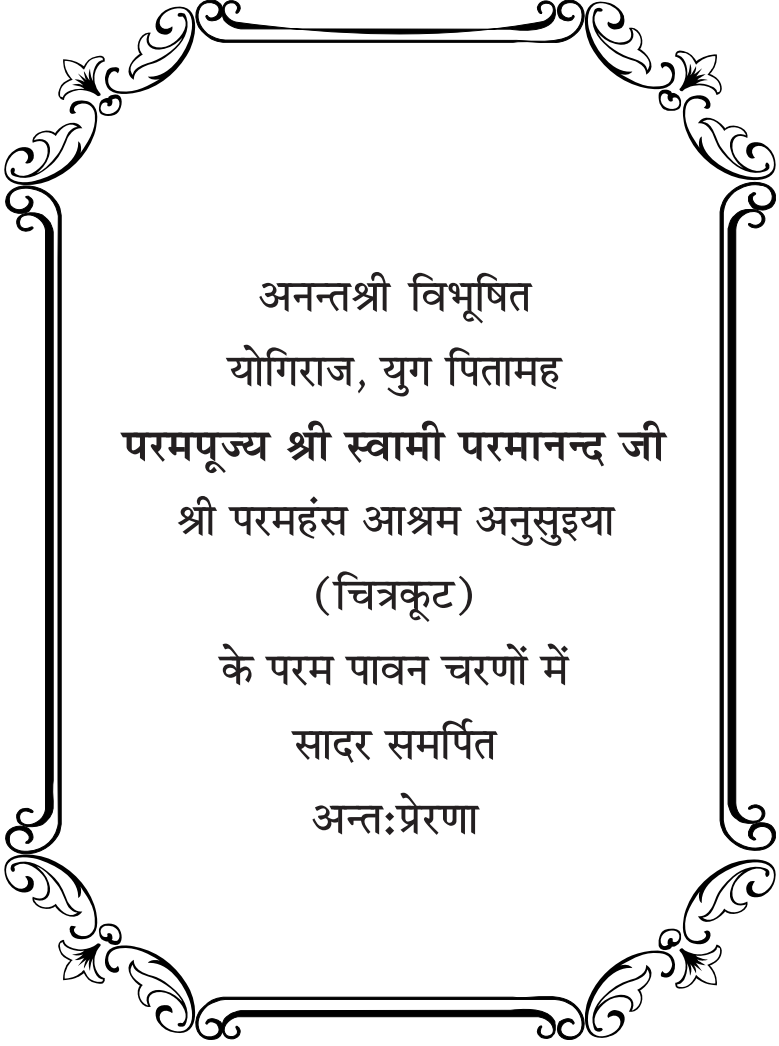


प्रकाशक :

श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्दजी आश्रम ट्रस्ट

न्यू अपोलो एस्टेट, गाला नं 5, मोगरा लेन (रेलवे सबवे के पास)

अंधेरी (पूर्व), मुम्बई - 400069



अनन्तश्री विभूषित
योगिराज, युग पितामह
परमपूज्य श्री स्वामी परमानन्द जी
श्री परमहंस आश्रम अनुसुइया
(चित्रकूट)
के परम पावन चरणों में
सादर समर्पित
अन्तःप्रेरणा

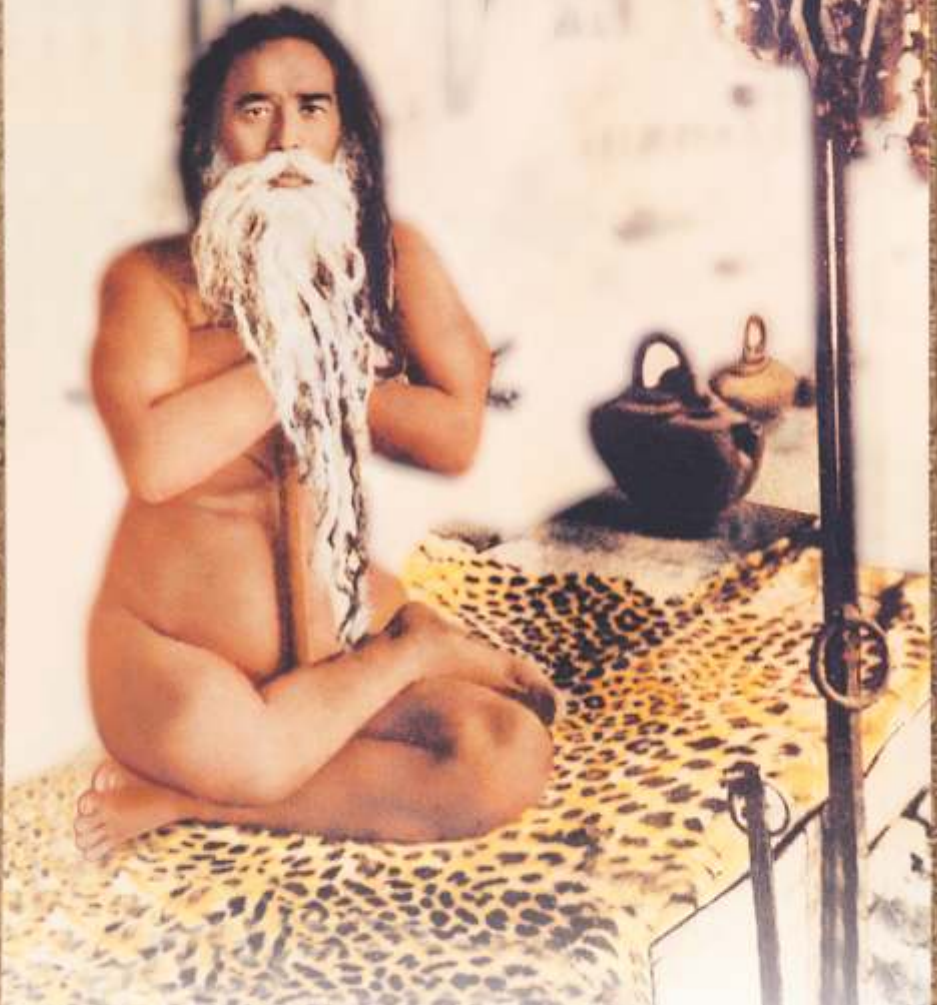
गुरु-वन्दना

॥ ॐ श्री सद्गुरुदेव भगवान् की जय ॥

जय सद्गुरुदेवं, परमानन्दं, अमर शरीरं अविकारी।
निर्गुण निर्मूलं, धरि स्थूलं, काटन शूलं भवभारी॥
सूरत निज सोहं, कलिमल खोहं, जनमन मोहन छविभारी।
अमरापुर वासी, सब सुख राशी, सदा एकरस निर्विकारी॥
अनुभव गम्भीरा, मति के धीरा, अलख फकीरा अवतारी।
योगी अद्वेष्टा, त्रिकाल द्रष्टा, केवल पद आनन्दकारी॥
चित्रकूटहिं आयो, अद्वैत लखायो, अनुसुइया आसन मारी।
श्री परमहंस स्वामी, अन्तर्यामी, हैं बड़नामी संसारी॥
हंसन हितकारी, जग पगुधारी, गर्व प्रहारी उपकारी।
सत्-पंथ चलायो, भ्रम मिटायो, रूप लखायो करतारी॥
यह शिष्य है तेरो, करत निहोरो, मोपर हेरो प्रणधारी।
जय सद्गुरु.....भारी॥



आत्मने मोक्षार्थं जगत् हिताय च



श्री श्री 1008 श्री स्वामी परमानन्दजी महाराज (परमहंसजी)

जन्मः शुभ सम्बत् विक्रम 1969 (1911 ई.)

महाप्रयाण ज्येष्ठ शुक्ल 7, 2026, दिनांक 23/05/1969 ई.

परमहंस आश्रम अनुसुइया, चित्रकूट



श्री स्वामी अड़गड़ानन्द जी महाराज

अनुक्रमणिका

| टाठ्ठ | विवरण | पृष्ठांक |
|-------|--|----------|
| १. | मनुष्य की उत्पत्ति कैसे हुई? | १ |
| २. | धर्म के नाम पर कई मजहब, सम्प्रदाय प्रचलित हैं जिनमें रहन-सहन, खान-पान, वेशभूषा, शादी-विवाह आदि सामाजिक नियमों को लगभग दो हजार वर्षों से 'धर्म' की संज्ञा दे दी गयी है- क्या यही धर्म है? विभिन्न सम्प्रदायों में कई सम्प्रदाय कैसे बने? | ३ |
| ३. | कुछ धर्मावलम्बियों का कथन है कि जितना उनके धर्मशास्त्र में लिखा है उतना ही सत्य है। अब दुबारा ऐसा महापुरुष नहीं हो सकता। किसी महापुरुष के अनुयायी कहते हैं कि बिना उस महापुरुष पर विश्वास किये स्वर्ग नहीं मिल सकता। महापुरुषों के पीछे ही मानव समाज सम्प्रदायों में विभाजित है। धर्म के नाम पर मत-मतान्तर एवं तरह-तरह की पूजा-पद्धतियाँ कहाँ से आयीं? | ५ |
| ४. | क्या परमात्मा को प्राप्त करने की कई विधियाँ हैं? | ७ |
| ५. | धर्म का लक्ष्य क्या है? | ९ |
| ६. | धार्मिक विकृतियों का कारण क्या है? | ९ |
| ७. | क्या छूने, खाने या समुद्र पार करने से धर्म नष्ट हो जाता है? | १२ |
| ८. | धर्म में प्रवेश का अधिकार किसको है? | १७ |
| ९. | मजहब, सम्प्रदाय धर्म की संज्ञा कैसे पा गये? | १८ |
| १०. | धर्म के नाम पर पारस्परिक फूट के कारण क्या हैं? | १९ |
| ११. | धर्म में ऊँच-नीच, रंग-भेद, नस्ल-भेद, लिंग-भेद का क्या स्थान है? | १९ |
| १२. | क्या धर्म का लक्ष्य नरक के भय और स्वर्ग के प्रलोभनों तक ही सीमित है? | २० |

| | | |
|-----|--|----|
| १३. | क्या धर्म राष्ट्र तक ही सीमित होता है? | २१ |
| १४. | धर्मान्तरण क्या है? क्या धर्म परिवर्तनशील होता है? | २५ |
| १५. | धर्म में उपासना स्थलों- मन्दिर, मस्जिद, चर्च आदि का क्या महत्त्व है? | २९ |
| १६. | धर्म कहाँ से प्राप्त करें? | ३० |
| १७. | ईश्वर का निवास कहाँ है? | ३१ |
| १८. | परमात्मा ही सत्य है तब देव-पूजा क्या है? | ३३ |
| १९. | सत्य क्या है और नश्वर क्या है? | ३५ |
| २०. | अधम कौन है? कर्म क्या है? यज्ञ क्या है? | ३६ |
| २१. | क्या जातियाँ भगवान द्वारा बनायी गयी हैं? वर्ण क्या है? | ३७ |
| २२. | शास्त्र कौन है? | ४१ |
| २३. | जाति, वर्ण, मजहब, सम्प्रदाय, भेदभावमुक्त मानव का धर्मशास्त्र क्या है? | ४२ |
| २४. | पूरा विश्व भारत की आध्यात्मिक विद्या का ऋणी है। भारत विश्वगुरु है तो उसका शास्त्र क्या है? | ४२ |
| २५. | धर्म के नाम पर हो रहे जेहाद, आतंकवाद, जातिवाद, भ्रष्टाचार, सामाजिक भेदभाव व अलगाववाद रोकने के लिए आपका क्या संदेश है? | ४५ |
| २६. | भारतीय संस्कृति संसद, कोलकाता में जनवरी, २००५ में आयोजित स्वर्ण जयन्ती समारोह के अवसर पर संसद ने एक पत्रक के माध्यम से धर्म का स्वरूप, धर्म और संस्कृति, धर्म और राष्ट्र तथा धर्म और विज्ञान विषय पर महाराज जी ने जो सुझाव दिया, उसे विशेष रूप से सभी पाठकों के लिए यथावत प्रस्तुत किया जा रहा है। | ४६ |
| २७. | आर्य क्या है? | ६० |
| २८. | योग क्या है? | ६६ |
| २९. | साधक का आचरण कैसा होना चाहिए? | ७१ |



श्रीमद्भगवद्गीता भाष्य 'यथार्थ गीता'
प्रश्न समाज के - उत्तर गीता से



श्री परमहंस आश्रम शक़ेषगढ़, चुनार, मिर्जापुर
(उत्तर प्रदेश) में पधारे हुए कतिपय भक्तों ने
गीता से सव्दर्भित प्रश्नों की एक सूची
महाराजश्री के समक्ष मई २००५ में
प्रस्तुत की, जिसका समाधान
पूज्य महाराजश्री
के श्रीमुख से प्रस्तुत है।

इसको आप श्रीमद्भगवद्गीता भाष्य 'यथार्थ गीता' का
अध्ययन करके देखें।

श्रीमद्भगवद्गीता भाष्य 'यथार्थ गीता' प्रश्न समाज के - उत्तर गीता से

बन्धुओ !

आपने गीता से कुछ प्रश्न किये हैं, जिनमें प्रथम प्रश्न है—

प्रश्न १ :- मनुष्य की उत्पत्ति कैसे हुई?

उत्तर :- गीता मानव का आदि धर्मशास्त्र है। कल्प के आदि में, सृष्टि के आरम्भ में इसका प्रादुर्भाव हुआ है। यह परमात्मा के श्रीमुख की वाणी है, अपौरुषेय वाणी है। उस समय श्रुतज्ञान था। एक से दूसरा सुनता था, अपनी स्मृति में धारण करता था इसीलिए इस ज्ञान को स्मृति कहा जाता था। यही गीता आदि 'मनुस्मृति' है।

गीता में भगवान कहते हैं, "अर्जुन! त्रिगुणमयी प्रकृति गर्भ को धारण करनेवाली माता है और मैं ही परमचेतन बीजरूप से पिता हूँ, अन्य सभी तो निमित्त मात्र हैं। मनुष्य की उत्पत्ति परमात्मा से है। अध्याय १५ में भगवान कहते हैं—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥ गीता, १५/७

अर्जुन! यह आत्मा मेरा विशुद्ध अंश है— उतना ही पावन जितना स्वयं भगवान। मनसहित इन्द्रियों के व्यापार को लेकर यह आत्मा एक शरीर को त्यागकर नवीन शरीर धारण कर लेता है। वायु गंध के स्थान से जिस प्रकार गन्ध को ग्रहण कर दूसरे स्थान पर वही खुशबू फैला देता है उसी प्रकार भूतादिकों का स्वामी आत्मा जिस शरीर को त्यागता है उसको त्यागते समय मनसहित इन्द्रियों के कार्य-कलाप को लेकर अगले नवीन शरीर में प्रवेश कर जाता है, वहाँ इन्हीं मनसहित इन्द्रियों के माध्यम से पुनः इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्त हो जाता है; किन्तु,

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।

विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥ गीता, १५/१०

शरीर छोड़कर जाते हुए को, पुनः शरीर धारण करते हुए को, पुनः विषयों में प्रवृत्त होते हुए को 'विमूढा नानुपश्यन्ति'- मूढ़ लोग नहीं जानते, केवल ज्ञानरूपी नेत्रवाले ही भली प्रकार देख पाते हैं।

यहाँ मनुष्य की उत्पत्ति एक परमात्मा से ही है; क्योंकि मनसहित इन्द्रियों का व्यापार पशुओं में, पक्षियों में, जड़ वनस्पतियों में नहीं होता। मनसहित इन्द्रियों के व्यापार को लेकर यह आत्मा मानव-शरीर त्यागकर दूसरे शरीर को धारण करता है। सात्त्विक गुण के कार्यकाल में मृत्यु को प्राप्त पुरुष उन्नत देवयोनि प्राप्त करता है, देव अर्थात् दैवी सम्पद् से सम्पन्न विशुद्ध धर्मपरायण पुरुष के रूप में अवतरित होता है। राजसी गुण के कार्यकाल में मृत्यु को प्राप्त पुरुष सामान्य मानव होता है और तामसी गुण की बहुलता में मृत्यु को प्राप्त पुरुष पशु-पक्षी, कीट-पतंग इत्यादि अधम योनि प्राप्त करता है। यही इस शरीर का गन्ध है जिसे लेकर यह आत्मा अन्य शरीरों में स्थानान्तरित होता है। इसी को भगवान ने गीता के पन्द्रहवें अध्याय के दूसरे श्लोक में कहा, 'कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके'- मनुष्य कर्मों के अनुसार बन्धन तैयार करता है। मनुष्य का इस शरीर से उस शरीर में परिवर्तन की प्रक्रिया को हृदय स्थित आत्मा ही नियन्त्रित करता है, जो मेरा विशुद्ध अंश है।

सृष्टि के आरम्भ में ज्योतिर्मय परमात्मा है। उसका ज्योतिर्मय अंश सूर्य कहलाता है, इसीलिए भगवान कहते हैं कि इस अविनाशी योग को मैंने कल्प के आदि में सूर्य से कहा। सूर्य ने वही उपदेश अपने पुत्र आदि मनु से कहा। मनु ने वह ज्ञान अपनी याददाश्त में धारण कर लिया और उसे सुरक्षित रखने के लिये अपने पुत्र इक्ष्वाकु से कहा, इक्ष्वाकु से राजर्षियों ने जाना। इस प्रकार परमात्मा के ज्योतिर्मय अंश से ही वह गीतोक्त ज्ञान प्रसारित हुआ। उसके द्वारा मनु ने जाना, मनु से इक्ष्वाकु और इक्ष्वाकु से राजर्षियों ने जाना। इस महत्त्वपूर्ण काल से यह ज्ञान सृष्टि में लुप्त हो गया था, याददाश्त चित्त से उतर गयी थी। योग तो अविनाशी है, कभी नष्ट नहीं होता। हाँ, हमारी समझ से ओझल हो गया था। हमारी याददाश्त खो गयी थी।

भगवान ने अर्जुन से कहा, "वही पुरातन योग मैं तेरे प्रति कहने जा रहा हूँ।" अनेक प्रश्न-परिप्रश्न के पश्चात् अर्जुन ने कहा- 'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा'-

अच्युत! मेरा मोह से उत्पन्न अज्ञान नष्ट हो गया, मैं स्मृति को प्राप्त हुआ हूँ, मैं आपके आदेश का पालन करूँगा। हताश अर्जुन ने धनुष उठा लिया और युद्ध में प्रवृत्त हो गया। उसे विजय मिली। सम्पूर्ण धर्मात्मा युधिष्ठिर राज्याभिषिक्त हुए, धर्मसाम्राज्य स्थापित हो गया और एक धर्मशास्त्र के रूप में गीता पुनः, पूर्ववत् प्रसारित हो गयी।

महर्षि वेदव्यास ने श्रुतज्ञान की परम्परा से अलग हटकर पूर्व के समस्त ज्ञान को लिपिबद्ध कर दिया- चारों वेद, भागवत, महाभारत, ब्रह्मसूत्र और गीता। अंत में स्वयं ही उन्होंने बताया कि इनमें शास्त्र कौन है। 'गीता सुगीता कर्त्तव्या' गीता भली प्रकार मनन करके हृदय में धारण करने योग्य है। यह भगवान पद्मनाभ के श्रीमुख से निःसृत वाणी है तो अन्य शास्त्रों में उलझने की क्या आवश्यकता है? 'किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः'- अन्य शास्त्रों के विस्तार में जाने की क्या जरूरत है? यह अकेले ही सम्पूर्ण शास्त्र है। और इस गीताशास्त्र के अनुसार मनुष्य की उत्पत्ति परमात्मा से है।



प्रश्न २ :- धर्म के नाम पर कई मजहब, सम्प्रदाय प्रचलित हैं। जिनमें रहन-सहन, खान-पान, वेशभूषा, शादी-विवाह आदि सामाजिक नियमों को लगभग दो हजार वर्षों से धर्म की संज्ञा दे दी गयी है- क्या यही धर्म है? विभिन्न सम्प्रदायों में कई उप-सम्प्रदाय कैसे बने?

उत्तर :- सम्प्रदाय गुरु घराने के ट्रेड मार्क हैं। वस्तुतः ईश्वर एक है, उसे प्राप्त करने की विधि भी एक ही है। उस नियत विधि से साधन करने से मार्ग में मिलनेवाला योगक्षेम एक-जैसा, सुविधा एक-जैसी मिलती है और उन्हीं प्रभु के संरक्षण में चलते हुए प्राप्ति हुई तो उपलब्धि एक-जैसी - उसी अव्यक्त, व्याप्त आत्मा का दर्शन और स्थिति। इस प्रकार भगवत्पथ में कोई सम्प्रदाय हो ही नहीं सकता।

धर्म के नाम पर आजकल जो अनेकानेक सम्प्रदाय, मजहब फैले हैं यह सभी गुरु घरानों के नाम हैं। यह उन घरानों के पढ़ाने के तरीके हैं। आधी दूरी तक ये अलग-अलग प्रतीत होते हैं लेकिन जब साधना भगवान के निर्देशन में

प्रवेश पा जाती है तो साधना एक, सुविधा एक-जैसी, निरीक्षण-परीक्षण और परिणाम एक-जैसा ही रहता है।

आप कान्वेण्ट के हजारों विद्यालयों की वेशभूषा पर दृष्टिपात् करें- कोई पीला है, कोई काला है, कोई श्वेत है तो कोई नीला, गुलाबी, आसमानी। आगे चलकर जब वही छात्र एम.ए., पीएच.डी. करते हैं तो शिक्षा का स्तर एक-जैसा, परिणाम एक, किसी को कुछ अधिक अंक तो किसी को किंचित् न्यून! भगवत्पथ में कोई चाहकर भी अलग भगवान, अलग धर्म, भिन्न-भिन्न साधन बना ही नहीं सकता। अनुभवी सद्गुरु की शरण-सान्निध्य न मिलने से यह दूरियाँ बनी रहती हैं और उनके मिलते ही यह शान्त हो जाती हैं; क्योंकि वह महापुरुष हृदय से प्रेरणा देकर सही राह पर खड़ा कर देते हैं।

जहाँ तक रहन-सहन, शादी-विवाह का प्रश्न है, भगवद्भक्त को सृष्टि का प्रत्येक कार्य प्रभु में समर्पण करके करना चाहिए। खेत में खुरपी चलाते हों तो समर्पण, अखाड़े में जाते हों तो समर्पण। नौकरी करें, व्यवसाय करें, राजनीति करें, लोहा सुधारें, चमड़ा सुधारें, सोना सुधारें- समर्पण और श्रद्धा के साथ कार्य आरम्भ करें। कार्य सम्पन्न होने पर नमन करें। प्रभु को नमन कर शयन करना, जागने पर नमन करना, चप्पल पहनना, वस्त्र पहनना अर्थात् हर कार्य में प्रभु स्मरण में आते रहें- यही धर्मव्रत है, आर्यव्रत है और सबको ऐसा करना ही चाहिए।

विवाह इत्यादि अवसरों पर कर्मकाण्ड और रस्म-रिवाजों की भिन्नता का आशय यह नहीं है कि कोई अलग धर्म हो गया। वह अपने-अपने ढंग से धर्म को, सत्य को, परमात्मा को साक्षी दे रहे हैं, अन्य कुछ भी नहीं। विविध देशों में प्रभु के समक्ष शपथ और साक्षी बनाने के तरीके अलग-अलग हैं; किन्तु प्रत्येक दशा में वे प्रभु का ही स्मरण करते हैं। वही व्यक्ति जब साधना के प्रशस्त पथ पर आ जाता है तो सबके लिए एक ही विधान है-

जागत में सुमिरन करे, सोवत में लव लाय।

सुरत डोर लागी रहे, तार टूट ना जाय।।

यही श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं-

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।

तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥८/१४

अर्जुन! अनन्य अर्थात् अन्य न, मेरे अतिरिक्त अन्य किसी देवी-देवता को न भजते हुए जो मुझे भजता है, 'सततं'- निरन्तर भजता है, उसके लिए मैं सुलभ हूँ। वह मुझे प्राप्त कर लेता है। वह क्षणभंगुर पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होता।



प्रश्न ३ :- कुछ धर्मावलम्बियों का कथन है कि जितना उनके धर्मग्रन्थ में लिखा है, उतना ही सत्य है। अब दुबारा ऐसा महापुरुष हो नहीं सकता। किसी महापुरुष के अनुयायी कहते हैं कि बिना उस महापुरुष पर विश्वास किये स्वर्ग नहीं मिल सकता। महापुरुष के पीछे ही मानव-समाज सम्प्रदायों में विभाजित है। क्या उन्होंने कई धर्म बताये? धर्म के नाम पर मत-मतान्तर एवं तरह-तरह की पूजा-पद्धतियाँ कहाँ से आयीं?

उत्तर :- परमात्मा यदि परमधाम है तो सद्गुरु भजन की जागृति है। जागृति से पूर्तिपर्यन्त आत्मा को रथी बनाकर (चलाने की ड्यूटी भी) चलाने का दायित्व भी सद्गुरु के द्वारा ही है। उनके संरक्षण में चलकर साधक मूल का स्पर्श कर लेता है। प्राप्ति के साथ ही गुरु का गुरुत्व मिल जाता है। वह गुरुत्व जितना गुरु महाराज में पूर्ण है उतना ही शिष्य में भी पूर्ण है, ऐसी दशा में प्राप्त होने योग्य कोई वस्तु अप्राप्त नहीं रह जाती जिसके लिये वह आहें भरे और न कोई विकार ही शेष रहा जिससे वह भयभीत हो। यहाँ गुरु शिष्य से पृथक् नहीं। कबीर कहते हैं- "घट में ही गुरु हमारा।" किन्तु साधनकाल में सद्गुरु की शरण, उनका सान्निध्य अनिवार्य है इसीलिये प्रत्येक महापुरुष ने सद्गुरु में दृढ़ श्रद्धा की आवश्यकता पर बल दिया है।

किन्तु सद्गुरु भी एक प्रश्न है। क्रमशः गुरु घराने बनते गये। प्रत्येक घराने का गद्दीनशीं गुरु परम्परायें और रूढ़ियाँ जोड़ता गया, जिनसे मतभेदों का सृजन हुआ। पुरुष को चाहिए कि सीधा एक परमात्मा में दृढ़ संकल्प हो और जो उस एक परमात्मा को सम्बोधित करता हो, ऐसे किसी दो-ढाई अक्षर

के नाम का जप करे। आपका मूल धर्मशास्त्र गीता है, इसका भली प्रकार अध्ययन कर हृदय में ढालें। जहाँ चिन्तन किंचित् ऊपर उठा, हृदय का आवरण हटा, श्रद्धा से जहाँ डोर लगी, भगवान ही प्रेरणा करके उन सद्गुरु का परिचय दे देंगे।

पुण्य पुंज बिनु मिलहिं न सन्ता। (मानस, ७/४४/३)— जब तक पुण्य का पुंज वर्तमान में साथ नहीं देता, सद्गुरु नहीं मिलते। पुण्य उसे कहते हैं जो आपको पूर्ण कर दे, तत्त्व की ओर ले चले। जो पतन की ओर ले चले उसे पाप-कर्म कहते हैं। गीतोक्त नियत कर्म का एक नाम पुण्य-कर्म है—

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।

ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः।।७/२८

अर्जुन! मैं राग-द्वेषादि द्वन्द्वों से ढँका हुआ सबके समक्ष विदित नहीं होता; किन्तु जिन पुण्य-कर्म करनेवाले, सतत् मुझे जपनेवाले, व्रत में दृढ़ रहकर भजनेवाले भक्तों के पाप नष्ट हो गये हैं, जिनका मोह से उत्पन्न आवरण नष्ट हो गया है, वे सम्पूर्ण ब्रह्म को जानते हैं, सम्पूर्ण कर्म को जानते हैं, सम्पूर्ण अध्यात्म को जानते हैं, अधियज्ञ सहित मुझे जानते हैं और मुझे जानकर मुझमें समाहित हो जाते हैं, इसके पश्चात् उनका पुनर्जन्म नहीं होता। वे सदा रहनेवाला जीवन तथा सदा रहनेवाली शांति प्राप्त कर लेते हैं।

सद्गुरुओं की गद्दी से शिक्षा मिलती है। कहीं प्रवेशिका की शिक्षा है, तो कहीं माध्यमिक की। कुछ न कुछ अंतर से सभी शिक्षा देते हैं; किन्तु परस्पर विरोधी शिक्षा तब मिलने लगती है जब—

पूरा सद्गुरु ना मिला, मिली न साँची सीख।

भेष यति का बनाय के, घर घर माँगे भीख।।

आपका प्रश्न है कि धर्म के स्थान पर मत-मतान्तरों की बाढ़, तरह-तरह की पूजा-पद्धतियाँ कहाँ से आयीं? इसका कारण जन-समाज का एक धर्मशास्त्र से अनभिज्ञता या धर्मशास्त्र विस्मृत होने से ये विकृतियाँ आयीं। दूसरा कारण भगवान श्रीकृष्ण बताते हैं, “अर्जुन! आत्मदर्शन की नियत विधि इस निष्काम कर्मयोग में निश्चयात्मक क्रिया एक है।” तो जो लोग बहुत-सी क्रियायें बताते हैं, क्या वे भजन नहीं करते? भगवान कहते हैं, “अर्जुन! अविवेकियों की बुद्धि अनन्त शाखाओं वाली होती है इसलिए वे अनन्त

क्रियाओं की संरचना कर डालते हैं। 'स्वर्गापराः'- स्वर्ग ही श्रेष्ठ है, इसके आगे कुछ नहीं है, यहीं तक उनकी दृष्टि होती है। वे दिखाऊ शोभायुक्त वाणी में उन अनन्त क्रियाओं को व्यक्त भी करते हैं। शीर्षक तो सनातन शाश्वत का है, उसकी ओट में वे दिखावटी शोभायुक्त वाणी में नश्वर का उपदेश करते हैं। उनके वाणी की छाप जिन-जिन के हृदय पर पड़ती है उनकी बुद्धि भी नष्ट हो जाती है, न कि वे कुछ पाते हैं। वे जन्म-मृत्युरूपी अनन्त फल भोगने में प्रवृत्त रहते हैं, अनन्त योनियों में भटकते ही रहते हैं।

अतः ईश्वर-पथ की साधना एक ही है। पहले मनसहित इन्द्रियाँ विषयोन्मुखी प्रवाहित थीं, अब इष्टोन्मुखी प्रवाहित हो जाती हैं। संयम जैसे-जैसे सधता जाता है, साधना का स्तर उठता जाता है। संयम का स्तर ऊँचा-नीचा हो सकता है किन्तु दूसरी-तीसरी कोई क्रिया नहीं हो सकती।



प्रश्न ४ :- क्या परमात्मा को प्राप्त करने की कई विधियाँ हैं?

उत्तर :- कदापि नहीं! भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं-अर्जुन! इस कर्म को किये बिना न तो कोई पूर्व में परमात्मा को प्राप्त कर सका है और न भविष्य में कोई प्राप्त कर सकेगा; परन्तु जिन महापुरुष के कर्मों के परिणाम में आत्मा विदित है, जो आत्मतृप्त हैं, आत्मस्थित हैं उन महापुरुष के लिए किंचित् भी कर्तव्य शेष नहीं है, प्राप्त होने योग्य कोई वस्तु अप्राप्य नहीं है। इसलिए कर्म करने से न उन्हें कोई लाभ है और कर्म छोड़ देने से न कोई क्षति। फिर भी वे महापुरुष पीछेवालों के मार्गदर्शन के लिए कर्म में भली प्रकार बरतते हैं। ऐसे सद्गुरु लोकहित के लिए होते हैं।

अनन्तकाल से जनकादि जितने भी ऋषि हुए हैं इसी कर्म को करके परमनैष्कर्म्य स्थिति को प्राप्त हो गये, जहाँ पहुँचने पर कर्म किये जाने से न कोई लाभ है और कर्म छोड़ देने से न कोई क्षति। वे सहज स्वरूप की स्थिति पा गये। इसलिए क्रिया तो एक ही है।

किन्तु इस विधि के कई स्तर हैं। इसका आरम्भ होता है प्रभु के गुणगान से, पारस्परिक भगवच्चर्चा से, पत्र-पुष्प-जल इत्यादि समर्पण से। यह आरंभिक कक्षा है।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।

कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥ गीता, १०/९

निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले मेरा गुणगान करते हुए वे प्रसन्न होते हैं, आपस में मेरी ही चर्चा करते हैं। शुरुआत यहीं से है।

क्रमशः स्तर उन्नत होने पर भगवान उठाने-बैठाने-चलाने लगते हैं। नियत कर्म अब प्रशस्त हो गया। इसके पश्चात् कर्म एक, साधना का परिणाम एक, मिलनेवाली सुविधा एक-जैसी ही सबको मिलती है।

भगवान कहते हैं- अर्जुन! "तू निमित्त मात्र होकर खड़ा भर रह, कर्ता-धर्ता तो मैं हूँ, विजय तुम्हारी होगी- 'निमित्त मात्रं भव सव्यसाचिन'। मेरे द्वारा मारे हुए इन मुर्दे को मार, यश प्राप्त कर।" वस्तुतः जब तक परमात्मा स्वयं आपकी आत्मा से अभिन्न होकर जागृत न हो जाय, मार्गदर्शन न करने लगे तब तक पूर्ण निवृत्ति दिला देनेवाली साधना अभी जागृत ही नहीं हुई।

इस प्रकार साधना एक है, विधि एक है। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं-

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।

न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥ गीता, १६/२३

इस शास्त्र-विधि को त्यागकर अन्य-अन्य विधियों से जो भजता है उसके जीवन में न सुख है, न सिद्धि है और न परमगति ही है। वह सबसे भ्रष्ट हो जाता है। इसलिए-

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।

ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥ गीता, १६/२४

तुम्हारे कर्तव्य और अकर्तव्य के निर्णय में शास्त्र ही प्रमाण है। किसी अन्य शास्त्र के पीछे न भागें। भगवान स्वयं कहते हैं-

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।

एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत॥ गीता, १५/२०

हे निष्पाप अर्जुन! यह गोपनीय से भी अति गोपनीय शास्त्र मेरे द्वारा कहा गया। कौन-सा शास्त्र? यही गीताशास्त्र। गीता अपने आप में सम्पूर्ण शास्त्र है। इसका भली प्रकार अध्ययन करके आचरण कर। तू अमृतमय अनामय परमपद को प्राप्त करेगा, सदा रहनेवाला जीवन और समृद्धि प्राप्त कर कृतार्थ हो जायेगा।



प्रश्न ५ :- धर्म का लक्ष्य क्या है?

उत्तर :- धर्म का लक्ष्य है लोक में समृद्धि और परमश्रेय की प्राप्ति। जीवन जन्म और मृत्यु के बीच एक पड़ाव है। मृत्यु के पश्चात् कोई पुनः लौटकर अपना घर या अपनी व्यवस्थाओं को नहीं देख पाता। गीता कहती है- **स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्। (१८/६२)** तुम उस निवास को पा जाओगे जो अजर-अमर है। तुम रहोगे, तुम्हारा जीवन रहेगा, तुम्हारा धाम हमेशा-हमेशा के लिए रहेगा। गीता सदा रहनेवाली समृद्धि, शान्ति और जिस परमात्मा के आप अंश हैं उस अंशी परमपिता परमात्मा का दर्शन, स्पर्श और उसमें विलय दिलाती है।

यह विडम्बना ही है कि हम उससे माँगते हैं जिसके पास नहीं है। जिसके पास है ही नहीं, वह कहाँ से दे देगा? हम किसी फलदार वृक्ष से मौसम में फल माँगेंगे तो वह अवश्य देगा; किन्तु हम उससे मुक्ति या भक्ति माँगें तो वह कहाँ से दे देगा?



प्रश्न ६ :- धार्मिक विकृतियों का कारण क्या है?

उत्तर :- इन विकृतियों का कारण केवल शास्त्र का विस्मृत हो जाना, उसकी अवहेलना और उस पर अनर्गल प्रतिबन्धों का लगना है। गीता धर्मशास्त्र के रूप में प्रतिष्ठित होते ही स्पष्ट हो जायेगा कि मानव एक परमात्मा की सन्तान हैं। परमधर्म परमात्मा ही एकमात्र शाश्वत सत्य है, वही नित्यतत्त्व है। उसे धारण करना धर्म है। उसे धारण करने की विधि, सम्पूर्ण साधना-पद्धति गीता है। गीता मनुष्य-मनुष्य में ऊँच-नीच की दरार नहीं डालती। गीतोक्त धर्म मनुष्यों के हृदय में जो दुःखों का कारण है उसका निवारण तथा सहज सुख की प्राप्ति का साधन है।

गीता का पहला ही श्लोक है-

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।

मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय।।१/१

‘धर्म’ एक क्षेत्र है तथा ‘कुरु’ एक क्षेत्र है। वस्तुतः वह क्षेत्र कहाँ है? वह युद्ध कहाँ हुआ? क्षेत्रज्ञ कौन है? गीताकार स्वयं स्पष्ट करते हैं-

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते। (१३/१)

अर्जुन! यह शरीर ही एक क्षेत्र है। इसमें बोया हुआ भला-बुरा बीज संस्काररूप में उगता है। शुभ या अशुभ अनन्त योनियों का कारण भी यही है। जो इसका पार पा लेता है वह क्षेत्रज्ञ है। वह इस क्षेत्र में फँसा नहीं बल्कि इसका रक्षक है, इससे उद्धार करानेवाला क्षेत्रज्ञ है। अर्जुन! सभी शरीरों में मैं क्षेत्रज्ञ हूँ और जो इसे जान लेता है वह भी क्षेत्रज्ञ है। स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण एक महायोगेश्वर पूर्ण सद्गुरु हैं।

शरीर एक क्षेत्र है। इसमें लड़नेवाली प्रवृत्तियाँ दो हैं- धर्मक्षेत्र और कुरुक्षेत्र। एक परमधर्म परमात्मा जो शाश्वत है, अनादि है, सत्य है उसे धारण करने की विधि और दूसरा है कुरु अर्थात् करो, करते ही रहो, सदा प्रवृत्त रहो; चलते रहो, पहुँचोगे कहीं नहीं, चाल कभी नहीं रुकेगी। इसका नाम है प्रवृत्ति मार्ग। जिसमें अज्ञानरूपी धृतराष्ट्र है, गो अर्थात् इन्द्रियों के आधारवाली दृष्टि (गांधारी) से जिसका गठन होता है। अज्ञान से प्रेरित मोहरूपी दुर्योधन, दुर्बुद्धिरूपी दुःशासन, विजातीय कर्मरूपी कर्ण, भ्रमरूपी भीष्म, द्वैत का आचरणरूपी द्रोणाचार्य, संशयरूपी शकुनि- इस प्रकार आसुरी सम्पद् अनन्त हैं फिर भी इन्हें ग्यारह अक्षौहिणी कहा गया। दस इन्द्रियाँ और एक मन- मनसहित इन्द्रियमयी दृष्टि से जिसका गठन है, वह है कुरुक्षेत्र, प्रवृत्ति मार्ग, आसुरी सम्पद्, विजातीय सम्पद्, जिन पर हमें विजय पाना है।

इसी अंतःकरण में एक दूसरी प्रवृत्ति भी है धर्मक्षेत्र। परम शाश्वत, सनातन, अव्यक्त, व्याप्त, काल से अतीत एकमात्र परमतत्त्व परमात्मा है। उसे धारण करना धर्म है। धर्मक्षेत्र में कर्तव्यरूपी कुन्ती, पुण्यरूपी पाण्डु हैं। पुण्य की जागृति होने से पूर्व मनुष्य कर्तव्य समझकर जो कुछ करता है, अपनी समझ से वह ठीक ही करता है लेकिन वह हो जाता है विजातीय सम्पद्। वह अंधकार में चलाया हुआ तीर होता है। पाण्डु से संसर्ग होने से पूर्व कुन्ती ने जो कुछ अर्जित किया, वह था कर्ण। पाण्डवों का सबसे दुर्धर्ष, निरन्तर का वैरी कोई था तो कर्ण। जबकि था सगा भाई।

अनजाने में धर्म समझकर कुछ भी कर बैठना धर्म नहीं हो जाता। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि, अर्जुन! अविवेकियों की बुद्धि अनन्त शाखाओं

वाली होती है इसलिए धर्म के नाम पर वे अनन्त क्रियाओं की रचना कर लेते हैं। दिखावटी शोभायुक्त वाणी में उसे व्यक्त भी करते हैं कि स्वर्ग ही सर्वोपरि लक्ष्य है। उनके वाणी की छाप जिन-जिन के चित्त पर पड़ जाती है उनकी भी बुद्धि नष्ट हो जाती है, न कि वे कुछ पाते हैं।

पुरुष श्रद्धामय है। कहीं न कहीं उसकी श्रद्धा होगी ही; किन्तु कामनाओं से ग्रसित अविवेकपूर्ण बुद्धि अनन्त क्रियाओं की संरचना कर लेती है। इसीलिए पुण्य जागृत होने से पूर्व मनुष्य कर्तव्य समझकर जो कुछ भी करता है अपनी समझ से कर्म ही करता है किन्तु है विजातीय कर्म, आसुरी सम्पद् का एक अंग। जहाँ पुण्यरूपी पाण्डु से संसर्ग हुआ, धर्मरूपी युधिष्ठिर का आविर्भाव हो जाता है। युधिष्ठिर को अजातशत्रु कहा जाता है अर्थात् उनका कोई शत्रु जन्मा ही नहीं, जबकि समस्त शत्रु युधिष्ठिर के ही थे। राज्याभिषेक युधिष्ठिर का होना था किन्तु युधिष्ठिर को अजातशत्रु कहा जाता था; क्योंकि ईश्वर-पथ में आरम्भ का नाश नहीं होता। भजन जागृत हो गया तो भगवान के संरक्षण में चलता है। प्रकृति में इतनी शक्ति नहीं है कि भगवान के हाथ से आपको छीन ले और अधोगति में फेंक दे। भगवान होने ही नहीं देंगे-

करउं सदा तिन्ह के रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी।।

- रामचरित मानस (३/४२/३)

इस प्रकार धर्मरूपी युधिष्ठिर (जो शाश्वत सत्य तत्त्व है उसे धारण करने की जागृति), भावरूपी भीम, भावे विद्यते देवा।- भाव में वह क्षमता है कि परमदेव परमात्मा विदित हो जाता है, अनुरागरूपी अर्जुन- इष्ट के अनुरूप लगाव अनुराग है। सृष्टि में लगाव राग कहलाता है, इष्ट में लगाव अनुराग है। “मम गुण गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा।। (मानस, ३/१५/६) यह अनुरागी के लक्षण होते हैं।- इस प्रकार अनुरागरूपी अर्जुन, नियमरूपी नकुल, सत्संगरूपी सहदेव, सात्विकतारूपी सात्यकि, काशिराज (कायारूपी काशी में ही वह साम्राज्य है।), रथी के रूप में भगवान अर्थात् अन्तरात्मा से जागृत इष्ट सद्गुरु- यह धर्मक्षेत्र है। इनकी संख्या सात अक्षौहिणी कही गयी। ईश्वर-पथ की क्रमोन्नत सात भूमिकाएँ हैं। इन भूमिकाओं की दृष्टि से, सत्य एक परमात्ममयी दृष्टि से जिसका गठन है वह धर्मक्षेत्र है। ये वृत्तियाँ

भी अनन्त ही हैं। वृत्तियों का प्रवाह ही तो है। जब धर्म की वृत्ति प्रबल होती है तो यह शरीर ही धर्मक्षेत्र बन जाता है।

कुरुक्षेत्र और धर्मक्षेत्र का संघर्ष तब तक चलता है जब तक विजातीय प्रवृत्ति का, आसुरी सम्पद् का अंतिम सदस्य दुर्योधन शान्त नहीं हो जाता। जब दुर्योधन समाप्त हो गया, कुल में कोई नहीं बचा तो अंधा धृतराष्ट्र कुछ देर अवश्य छटपटाया, अंत में उसने भी संन्यास ले लिया, हरि के द्वार पर पहुँचकर चिन्तन करने लगा। इस प्रकार गीता अंतःकरण की दो प्रवृत्तियों का संघर्ष है।

हर मनुष्य या तो प्रकृति-प्रधान है या धर्म-प्रधान है। अज्ञान में भी, अदृश्य रूप से ही सही, किसी न किसी रूप में अपने से उच्चतर सत्ता की शरणस्थली वह अवश्य ढूँढ़ता है। मनुष्य अपूर्ण है, इसे पूर्णत्व प्रदान करना, सदा रहनेवाला जीवन और शान्ति प्रदान करना, अभय पद देना- यही गीता का क्रियात्मक साधन है। साधना उन्नत होने पर भगवान कोई कल्पना नहीं रह जाता। आगे-पीछे, सोते-जागते भगवान का वरदहस्त मिलने लगता है। जहाँ कृपा मिलने लगी, अर्जुन की तरह आपकी आँख खुली, सामने दृश्य प्रकट हुआ, फिर आपको कोई भ्रमा नहीं सकता। यह प्रत्यक्ष दर्शन है, एक जागृति है और यह जागृति गीता के माध्यम से है। यह आपको अपने विशुद्ध स्वरूप की प्राप्ति कराती है। जन्म-मृत्यु के चक्कर से मुक्ति दिलाकर यह आपको लोक में हर प्रकार की समृद्धि और अभयपद में स्थिति दिलाती है।



प्रश्न ७ :- क्या छूने, खाने-पीने या समुद्र पार करने से धर्म नष्ट हो जाता है?

उत्तर :- विचारणीय है कि छूना किसे है? यदि आप विकारों का स्पर्श करते हैं, आसुरी प्रवृत्ति को छूते हैं तो हास अवश्य होगा- श्रृंगी की भृंगी करि डारी, पाराशर के उदर विदार।। रमैया की दुलहन लूटा बाजार।। साधना के विपरीत दृष्टिपात् करने से साधन का हास हो जाता है। साधना नष्ट तो कभी नहीं होती क्योंकि इस भगवत्पथ में आरंभ का नाश नहीं होता।

रहा स्पर्श करने से धर्म के नष्ट होने का प्रश्न। व्यक्ति के छूने से धर्म का नष्ट होना कदापि संभव नहीं है; क्योंकि भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि यह

पुरुष मेरा विशुद्ध अंश है। प्रकृति गर्भ धारण करनेवाली माता और मैं बीजरूप से पिता हूँ, अन्य माता-पिता तो निमित्त मात्र हैं। “ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः॥” (गीता, १५/७) यह पुरुष मेरा विशुद्ध अंश है, इसलिए गीता के अनुसार मनुष्य-मनुष्य के छूने से धर्म कदापि नष्ट नहीं होता; किन्तु यदि आप सत्य और नित्य की राह छोड़कर अनित्य की राह पकड़ लेंगे, उसको छू देंगे तो हास अवश्य होगा। यदि इसी जन्म में पार होना है तो जन्म, दो जन्म का झटका अवश्य लग जायेगा।

गीता के अनुसार यज्ञ (जिसका परिणाम सनातन ब्रह्म का दर्शन और स्थिति है) करने का अधिकार उन सबको है जिन्हें मानव-तन मिला है। भगवान कहते हैं- अर्जुन! यज्ञ (गीतोक्त साधना) रहित पुरुष के लिए पुनः मनुष्य-शरीर भी सुलभ नहीं है तो भला परलोक कैसे सुलभ होगा? यज्ञ उन सबको करना है जिन्हें मानव-तन मिला है। समाज में ऊँची-नीची उपाधियाँ समय-समय की व्यवस्थाएँ हैं। जिन वर्गों के आय के स्रोत सबल थे, वे कमजोर वर्ग से काम लेने लगे। यह उतार-चढ़ाव सदैव रहता आया है। जिन कबीलों में फूट होती है, उनका भाग्य वे कबीले लिखते हैं जिनमें एकता होती है, संगठन होता है। बुद्धिमान् भोक्ता और बुद्धिहीन भोजन होता है, किन्तु ईश्वर-पथ में इस विषमता का कोई मूल्य नहीं है। ये दुर्दिन अपने रचे हुए दुर्दिन हैं। धर्म में इनका कोई स्थान नहीं है।

इसी प्रकार आपस के खान-पान से सौहार्द्र बढ़ता है न कि धर्म नष्ट होता है। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं, “यह आत्मा अच्छेघ है, अदाह्य है। जल इसे गीला नहीं कर सकता, आकाश इसे अपने में समाहित नहीं कर सकता। यह आत्मा सर्वव्यापक, अचल स्थिर रहनेवाला और सनातन है।” आप कौन हैं? सनातन धर्म के अनुयायी! सनातन कौन है? आत्मा! यदि आप आत्मपर्यन्त दूरी तय करानेवाली विधि से अवगत नहीं हैं, तो आप सनातन धर्म नहीं जानते। खान-पान तो दूर, प्रकृति में उत्पन्न कोई वस्तु उस सनातन का स्पर्श भी नहीं कर पाती तो वह सनातन धर्म छूने-खाने से नष्ट कैसे होगा?

यह भी एक भ्रान्ति ही है कि समुद्र पार करने से धर्म नष्ट हो जाता है। हम तो कहते हैं कि समुद्र पार करना ही हमारा धर्म है, न पार करने से धर्म अवश्य

नष्ट होता है। संसार एक समुद्र है। इसे पार करने ही हम-आप चलते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं- जो अनन्य भाव से मुझमें समर्पित होकर लगते हैं, उन्हें मैं 'संसारसागरात्- संसाररूपी समुद्र से पार कर देता हूँ।

भवसिन्धु अगाध परे नर ते। पद पंकज प्रेम न जे करते।। (मानस, ७/१३/५) वे अथाह भवसिन्धु में पड़े हैं, जो उन पावन प्रभु के चरण-कमलों में प्रेम नहीं करते। हमें सागर पार होना है, प्रभु की शरण होकर होना है। समुद्र पार जाने से ही शाश्वत की स्थिति मिलनी है।

संसार में यत्र-तत्र प्रचलित है कि समुद्र पार मत जाओ, फल्गु नदी पार मत करो, कर्मनाशा नदी में पाँव मत डालो अन्यथा धर्म-कर्म नष्ट हो जायेगा। इस तरह के हथकंडों या अन्धविश्वास का धर्म में कोई स्थान नहीं है। श्री सीताजी अयोध्या पधारीं- उन्हें सब आदर की दृष्टि से ही तो देखते हैं। श्री रामजी समुद्र पार गये, हनुमान गये और आये, सभी बन्दर-भालू समुद्र पार गये और आये। भगवान् श्रीराम की विजय पर सभी देवता प्रभु की वन्दना में आये। ब्रह्मा ने उन बन्दरों की प्रशंसा की- कृतकृत्य विभो सब वानर ये। निरखन्ति तवानन सादर ए। (मानस, ६/११०/९) ब्रह्माजी को कहना चाहिए था कि समुद्र पार करनेवाले वानर भ्रष्ट हो गये, धर्म नष्ट हो गया, जबकि देवताओं के पितामह स्तुति करने लगे। वशिष्ठ इत्यादि का स्नेह उन्हें प्राप्त हुआ। भगवान् राम ने उन्हें अपना सखा माना। अतः यह धारणा निराधार है कि समुद्र पार करने से धर्म नष्ट होता है।

सृष्टि में यदि जल न हो तो जीव की उत्पत्ति ही असम्भव है- छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम शरीरा।। (मानस, ४/१०/२) शरीर उक्त पंच महाभूतों से निर्मित है। वैज्ञानिकों का मानना है कि मानव शरीर ९४% तरल पदार्थ से निर्मित है। सन्त कबीर ने इसे "पानी केरा बुलबुला, अस मानुस की जात।" कहा। किसी ने इसे 'ओस की बूँद' की संज्ञा दी। संसार में जल का जो भी उपयोग है वह सब समुद्र से ही आता है। पृथ्वी यदि एक हिस्सा है तो इसका तीन गुना जल क्षेत्रफल में है। जल के भीतर भी सृष्टि है। विशाल जल-जन्तु जल से ही आक्सीजन ग्रहण करते हैं। इस समुद्र के पार जाने या न जाने से धर्म को कुछ भी लेना-

देना नहीं है। हाँ, ईश्वर-पथ के चिन्तन में अनुरक्त साधक यदि संसार-समुद्र में पाँव रख दे, काम-क्रोध-लोभ-मोह की ओर गतिशील हो जाय तो साधना की क्षति है। समूल नष्ट तो नहीं होगा, लक्ष्यप्राप्ति में विलम्ब या अवरोध आ सकता है।

विरति चर्म असि ग्यान मद, लोभ मोह रिपु मारि।

जय पाड़अ सो हरि भगति, देखु खगेस विचारि।।

-मानस, उत्तरकांड, १२० ख

वैराग्य की ढाल है, ज्ञान की तलवार है। मद, लोभ, मोह शत्रु हैं। इन शत्रुओं का वध कर जो विजय प्राप्त की जाती है उसका नाम है हरिभक्ति। यह संसार षड् विकारों का प्रसार ही तो है। साधक भजन से विचलित हो कदाचित् इन विकारों की ओर उन्मुख हो जाता है तो उसने भूल की है, उसे पुनः भगवत्पथ पर कुछ घूमकर आना पड़ेगा। बीज का नाश साधन-पथ में नहीं है। साधन का स्वल्प अभ्यास भी पार लग गया तो अगले जन्म में साधन जहाँ से छूटा था, वहीं से आरम्भ करेगा। इस विचलन से उसका रास्ता थोड़ा लम्बा और दुरूह हो जायेगा।

समुद्र भी तो सृष्टि के ही अंतर्गत है। सृष्टि एक इकाई है। यह दुःखरूप है। इसके पार जाने के लिए दुर्लभ मानव-तन मिला है। दुर्लभ मानव-तन क्या भारत में ही है? हम-आप पशु नहीं हैं, कीट नहीं हैं, वनस्पति नहीं हैं, मनुष्य हैं। मानव एक इकाई है। प्रजनन की दृष्टि से मानव एक इकाई है। महाराज मनु से जायमान होने से सभी मनुज हैं, मानव हैं। स्वार्थभू मनु अरु सतरूपा। जिन्ह ते भै नर सृष्टि अनूपा।। (मानस, १/१४१/१) अनुपम अर्थात् जिनकी कोई तुलना नहीं, ऐसी विशुद्ध एक सृष्टि हुई। इस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि के मानव महाराज मनु के विशुद्ध अंश हैं, जिनके छूने-खाने से धर्म नष्ट होने का कोई प्रश्न ही नहीं है।

रामचरित मानस में है कि भगवान राम ने स्वयं एक सभा बुलायी और सबको समझाया- बड़े भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रन्थन्धि गावा।। (मानस, ७/४२/७) बड़े सौभाग्य से यह मानव-तन मिला है। यह देवताओं को भी दुर्लभ है। देवता भी नर-तन से आशावान् हैं। देवताओं

की अपेक्षा एक वस्तु आपके पास अधिक है। देवता देवलोक में सुख की पराकाष्ठा का उपभोग अवश्य करते हैं; किन्तु पुण्य क्षीण हो जाने पर “क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।” (गीता, ९/२१) वहाँ से गिरकर मृत्युलोक में आ जाते हैं। देवराज इन्द्र गिरे तो अजगर हो गये, कोई गिरगिटान हो गया। यह निश्चित नहीं कि उन्हें दुर्लभ मानव-तन मिले। वे सुख अवश्य भोग लें किन्तु देवलोक में नवीन साधना करके परमकल्याण तक की दूरी नहीं तय कर सकते। उस दूरी को तय करने का माध्यम यह दुर्लभ मानव-तन है। यह साधन का धाम है, मुक्ति का द्वार है। ऐसे दुर्लभ मानव-तन को पाकर जिसने अपना निजी परलोक नहीं सँवारा-

सो परत्र दुख पावइ, सिर धुनि धुनि पछिताइ।

कालहि कर्महि ईश्वरहि, मिथ्या दोष लगाइ।।

(मानस, ७/४३)

यदि वह अपना निजी परलोक नहीं सँवार लेता, (किसी पर एहसान मत करो) अपना निजी परलोक नहीं सुधारता, वह जन्मान्तरों में दुःख पाता है, सिर धुन-धुन कर पछताता है, काल, कर्म और ईश्वर को व्यर्थ ही दोष देता है। प्रायः दो-तीन बहाने मनुष्य करता ही है- समय अनुकूल नहीं है- काल को दोष देना, भाग्य में लिखा नहीं है- कर्म को दोष देना, कर्ता-धर्ता भगवान हैं, वे कराते ही नहीं- ईश्वर को दोष देना; किन्तु भगवान राम कहते हैं कि वह व्यर्थ दोष देता है। यदि दुर्लभ मानव-तन उपलब्ध है तो भवसागर पार न कर लेने का सब दोष हमारा है। मानव-तन साधन धाम है। वह साधन जो मोक्षपर्यन्त आपकी दूरी तय करा दे; उसमें श्रद्धा-समर्पण-विवेक-वैराग्य-साधना जो कुछ चाहिए, सब कुछ सजाकर, सँवारकर भगवान ने इस दुर्लभ मानव-तन को पैदा किया है। इसलिए इस तन को स्पृश्य या अस्पृश्य कहना भगवदाज्ञा की अनभिज्ञता है। इसी तरह भवसिन्धु से पार होना ही है। बाहर संसार में जितने समुद्र हैं, उपयोगी हैं। संसार में समुद्र न होते तो यह पृथ्वी भी उन मृत ग्रहों की तरह होती जहाँ जल के अभाव में जीवन का अस्तित्व ही नहीं है। समुद्र पार करने से धर्म की क्षति नहीं है। हाँ, संन्यासी यदि साधना छोड़कर वासनाओं के समुद्र की ओर कदम बढ़ाता है तो वह शोचनीय अवश्य है।

उसने अपने पाँव में कुल्हाड़ी मारी है। वह साधन कर सकता था; किन्तु प्रमादवश विषयों के संसर्ग से एक-आध जन्म का धक्का खा गया। धर्म नष्ट हो जाय ऐसी कोई विभीषिका वहाँ भी नहीं है।



प्रश्न ८ :- धर्म में प्रवेश का अधिकार किसको है?

उत्तर :- धर्म में प्रवेश का अधिकार मानव मात्र को है। भगवान कहते हैं- 'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।' (गीता, ९/३३)- क्षणभंगुर किन्तु दुर्लभ मानव-तन को पाकर मेरा भजन कर- प्रवेश उसको है। जो समुद्र में डूब रहा हो, पार होने का अधिकार सर्वप्रथम उसी का है। जो जंगल में भटक गया है, उसका अधिकार है कि भटकाव समाप्त कर अपने घर पहुँच जाय। इसलिए अत्यन्त पाप करनेवालों से भी अधिक पापवाला है तब भी गीतोक्त ज्ञान के द्वारा निःसन्देह पार हो जायेगा, अमृतमय पद प्राप्त करेगा। भजन का अधिकार दो हाथ-पैरवाले मनुष्य को है।

लोग कहते हैं, मुझमें भजन के संस्कार नहीं हैं। निषादराज गुह में एक भी शुभ संस्कार नहीं था,

साधु समाज न जाकर लेखा।

राम भगत महँ जासु न रेखा।। (मानस, २/१८९/७)

भाग्य में राम-भक्ति की रेखा थी ही नहीं, किन्तु-

राम कीन्ह आपन जबही तें।

भयउँ भुवन भूषन तबही तें।। (मानस, २/१९५/२)

जिसे रामजी ने अपना लिया वह तीनों लोकों में परम पवित्र हो गया। भक्त शिरोमणि हो गये निषादराज। भाग्य में नहीं लिखा है तो कोई क्षति नहीं, इतना तो लिखा है कि हम मनुष्य हैं। मनुष्य-तन पा गये, इतना पर्याप्त है। मनुष्य कर्मों का निर्माता है, संस्कारों का रचयिता है। इसी कुल का केवट था। बाल्यकाल से ही उसने विचार किया कि दादा-परदादा सभी नाव इस पार उस पार करते, खटते-खाते मर गये। इतना ही जीवन का लक्ष्य है या इससे आगे भी कोई सत्य है?- वह विचारों में डूब गया। समझ जब काम कर गयी तो चिन्तन में लग गया। प्रभु के विरह में नाव चलाना ही भूल गया। प्रभु को मार्ग

बदलकर उसके पास आना पड़ा, बुलाना पड़ा। उसने प्रभु को पार किया, स्वयं भी पार हो गया। इस प्रकार भजन में प्रवेश मानव-तन को है।

कितना भी जघन्य प्राणी क्यों न हो, गीतोक्त साधन करते ही उसमें भजन जागृत हो जाता है। जो चार दिनों से भूखा है, रोटी की सबसे अधिक आवश्यकता उसे है, इसलिए पापियों का भजन में प्रवेश सर्वप्रथम है। जो लोग कहते हैं कि इनमें पाप अधिक हैं इसलिये अभी इन्हें धर्म में प्रवेश नहीं दिया जा सकता, भ्रम में हैं। पुण्यात्मा वह है जो पूर्णत्व की ओर अग्रसर है, पापी वह है जो जान-बूझकर आसुरी प्रवृत्तियों में लिप्त है; किन्तु बहुसंख्यक लोग न पापात्मा हैं न पुण्यात्मा। गीता में है कि 'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।' (२/६९) जगत् रूपी रात्रि में सभी निश्चेष्ट पड़े हैं। वे न पापात्मा हैं न पुण्यात्मा, वे निश्चेष्ट हैं, अनभिज्ञ हैं। संयमी पुरुष इनमें से जाग जाता है। शेष अचेत प्राणियों में से जिस किसी ने गीतोक्त साधना का ज्योंही स्पर्श किया, साधन समझकर चार कदम चलते बन गया, वह जाग गया। वह अपने शुद्ध स्वरूप शाश्वत धाम की ओर उन्मुख हो गया, जहाँ मृत्यु नहीं है। अतः धर्म में प्रवेश का अधिकार मानव-तन को है, भले ही वह सृष्टि में कहीं भी जन्मा हो।



प्रश्न ९ :- मज्जहब सम्प्रदाय धर्म की संज्ञा कैसे पा गये?

उत्तर :- पूज्य गुरुदेव (श्री परमानन्दजी महाराज) कहा करते थे, "गुरु के रियाज पर घमंड करे चेला।" संयम तो गुरु महाराज ने किया और स्थिति प्राप्त की; किन्तु शिष्यवर्ग उतना साधन न कर डींग हाँकने लगते हैं कि हमारे गुरु ने यह किया, वह किया। हमारे गुरु महाराज ऐसे थे। वे स्वयं की ओर नहीं देखते कि वे क्या हैं? अकारण अतिशयोक्ति से जीने-खाने की व्यवस्था मिल सकती है, इससे अधिक कुछ नहीं मिलता। महापुरुष समाज में कभी भी दरार नहीं डालता, यदि डालता है तो अभी वह भटका हुआ पथिक है। महापुरुष के स्थान पर जब कोई अयोग्य गद्दी पर आ जाता है तो मज्जहब, सम्प्रदाय, परस्पर विरोधी आचार-विचारों का सृजन होने लगता है।



प्रश्न १० :- धर्म के नाम पर पारस्परिक फूट के कारण क्या हैं?

उत्तर :- धर्म एक ही है। कोई दूसरा भी धर्म है तो भ्रान्ति है। धर्म कभी फूट का कारण बन ही नहीं सकता। केवल धर्म ही मनुष्य को एक ईश्वर की सन्तान के रूप में जोड़ता है, अन्य व्यवस्थाएँ उसे तोड़ती हैं। धर्म में एक ही साधक के अवस्था-भेद हो सकते हैं, ऊँची-नीची कक्षाओं के भेद हो सकते हैं। जैसे शिशु कक्षा के बच्चे आपस में लड़ते हैं, कभी किसी की कलम तोड़ दी, कभी दाँत से काट लिया। उनकी अवस्था अभी हल्की है।

परमात्मा एक है। उसे प्राप्त करने की विधि भी एक ही है। उस विधि को आचरण में ढालना ही धर्माचरण है। साधना आरम्भिक अवस्था की हो सकती है। वही साधक मध्यम अवस्था का हो सकता है। कोई संघर्षशील क्षत्रिय श्रेणी का हो सकता है। विकार समाप्त हो गये, ब्रह्म में विलय की योग्यता वाले विप्र स्तर पर हो सकते हैं। अवस्था ऊँची-नीची हो सकती है किन्तु धर्म दो नहीं हो सकता।

धर्म के नाम पर फूट और संघर्ष कदाचित् गद्दी को लेकर होते होंगे। गद्दी मिल जाने पर वे शान्त भी हो जायेंगे। ऐसी वेशभूषा हो तब आपका धर्म सही है, ऐसा बाल रखोगे तब धर्म है- यह सब तभी तक रहता है जब तक साधना की जागृति नहीं है। जब धर्म की कमान आसुरी प्रवृत्तिवाले सँभाल लेते हैं तब ऐसे झगड़े बढ़ जाते हैं।



प्रश्न ११ :- धर्म में ऊँच-नीच, रंग-भेद, नस्ल-भेद, लिंग-भेद का क्या स्थान है?

उत्तर :- धर्म में ऊँच-नीच, रंग-भेद, नस्ल या लिंग-भेद के लिए कोई स्थान नहीं है। जलवायु तथा तापमान के भेद से रंगों में परिवर्तन होता रहता है। अतिउष्ण प्रदेशों के निवासियों का श्याम रंग स्वाभाविक है। शीतप्रधान देशों के निवासियों का रंग गोरा होता है। समशीतोष्ण जलवायु वाले लोगों का रंग गेहुँआ रहता है। यह तो तापमान की देन है। धर्म का इससे कुछ भी लेना-देना नहीं है।

गीता के अनुसार, “शरीर एक वस्त्र है। जैसे मनुष्य पुराना वस्त्र त्यागकर नवीन वस्त्र धारण कर लेता है उसी प्रकार भूतादिकों का स्वामी आत्मा शरीररूपी वस्त्र को त्यागकर नवीन शरीर धारण कर लेता है।” रंग-भेद, नस्ल-भेद इत्यादि वस्त्र के भेद हैं, आपके नहीं। आत्मा शुद्ध है, तत्त्व है, परमसत्य है। यही आपका निज स्वरूप है। साधना के सही दौर में पड़कर वह वहीं पहुँच जाता है जहाँ आत्मा विदित हो जाती है, वह आत्म-तृप्त, आत्मस्थित हो जाता है। बाह्य भेद तो प्रकृति की देन है। ईश्वर-पथ में कोई भेदभाव नहीं है-

नाम जपत कुष्ठी भला, चुड़ चुड़ गिरे जो चाम।

सुघर देह किस काम की, जिस मुख नहीं नाम।।

भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं- पुरुष या तो क्षर है या अक्षर है। वह या तो इन्द्रिय स्तर पर जीवन-यापन करता है या संयम के स्तर पर जीता है। मनुष्य की यही दो श्रेणियाँ संसार में हैं। तीसरी श्रेणी अनिर्वचनीय है, जो शाश्वत परमात्मा है। वहाँ पहुँचकर वह न क्षर है न अक्षर है बल्कि कैवल्यस्वरूप है, कल्याण-तत्त्व है।



प्रश्न १२ :- क्या धर्म का लक्ष्य नरक के भय और स्वर्ग के प्रलोभनों तक ही सीमित है?

उत्तर :- नरक का भय दिखाने की कौन जरूरत है, हर व्यक्ति नरक भोग रहा है। न चाहते हुए भी परिवार में एक लुंज लड़का पैदा हो जाता है। धन-वैभव की कमी नहीं है फिर भी चिन्ता है। व्यस्तता इतनी कि खाने-सोने का समय ही नहीं है। नींद नहीं आती। न चाहते हुए भी कैन्सर हो गया, लड़के का एक्सीडेंट हो गया। न चाहते हुए भी पता नहीं कौन ब्लेम लग गया, आरोपों के घेरे में हैं। सृष्टि 'दुखालयं अशाश्वतम्'- संसार दुःख का समुद्र है, अशाश्वत है, नश्वर है। अतः नरक का भय दिखाने की क्या आवश्यकता है?

बच्चे माँ की गोद तक तो सुखी माने जा सकते हैं किन्तु जब से होश सँभाला, समझ आयी तो दुःख ही दुःख है। अतः अलग से भय दिखाने का बहुत औचित्य नहीं है। सुखमय जीवन स्वर्ग और दुःखमय जीवन नरक है। स्वर्ग और नरक संसार की ही दो सीमाएँ हैं। मानस में है-

कहींहिं बेद इतिहास पुराना। विधि प्रपंचु गुन अवगुन साना।।
दानव देव ऊँच अरु नीचू। अमिय सुजीवनु माहरु मीचू।।
सरग नरक अनुराग बिरागा। निगमागम गुन दोष बिभागा।।

(मानस, १/५/२-५)

अर्थात् यह स्वर्ग है, यह नरक है, देव है, दानव है, सुख-दुःख, पाप-पुण्य, दिन-रात ये सभी विधाता के प्रपंच के नाम हैं। एक गुणों की नामावली है तो दूसरी दुर्गुणों की नामावली है; किन्तु हैं सभी प्रपंच। स्वर्ग मिल भी गया तो उसका अंत दुःखद होता है। सभी देवता अंत में च्युत होकर यहीं आये। “क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।”- पुण्य क्षीण हुआ तो मृत्युलोक की यात्रा पुनः प्रारम्भ हो जाती है।

कुरान में आता है कि इबलिस देवता था, फरिश्ता था। जरा-सी भूल करने पर अल्लाह ने उसे जन्नत से निकाल कर मृत्युलोक में भेज दिया।

जब देवताओं का इतना ही अस्तित्व है तो आप स्वर्ग के लिए क्यों लालायित हैं? बाइबिल में है कि आदि मानव आदम थे। स्वर्ग में ही जन्मे और वहीं रहते थे। एक फल खा लिया, तो ईश्वर ने कहा- जाओ मृत्युलोक में। बड़ा कड़ा शासन है। रिस्टीकेशन तो पलभर में हो जाता है। एक फल क्या खाया कि निष्कासन। हमारे यहाँ खा लेता तो दस हम उसे और बाँध देते कि ले जाओ घर पर भी खा लेना। यह स्वर्ग-नरक कुछ नहीं, संसार की ही व्यवस्थाएँ हैं।

इस संसार में जो शाश्वत सत्य है, वह है एक परमात्मा। उसका दर्शन, स्पर्श और उसमें स्थिति मिलने से पूर्व जीव को कभी विश्राम नहीं है, दुःखों से मुक्ति असम्भव है। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं-

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।

ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप।। (गीता, ११/५४)

परंतप अर्जुन! अनन्य भक्ति के द्वारा, अनन्य अर्थात् अन्य किसी देवी-देवता, भूत-भवानी का चिन्तन न करते हुए, पूर्ण श्रद्धा से युक्त होकर जो मुझे भजता है उसके लिये तो मैं प्रत्यक्ष देखने के लिये (जैसा तूने देखा), स्पर्श करने के लिए और स्थिति प्राप्त करने के लिये भी सुलभ हूँ। वह स्थिति

मिलेगी जो शाश्वत है, वह स्वरूप मिलेगा जो शाश्वत है, उस धाम को प्राप्त कर लगे जो शाश्वत है।

गीता आपको परमात्म-स्वरूप में स्थिति दिलाती है, स्वर्ग का प्रलोभन और नरक का भय दिखाकर ही नहीं छोड़ देती। गीता आपको ऐसा जन्म देती है जिसके पीछे मृत्यु नहीं, ऐसी शान्ति देती है जिसके पीछे अशान्ति नहीं है।

स्वर्ग और नरक संसार के ही दो छोर हैं। आरंभिक साधकों को सचेत करने के लिये तथा प्रोत्साहित करने के लिए ही पुरस्कार और दण्डस्वरूप स्वर्ग या नरक की परिकल्पनाएँ हैं; किन्तु साधना प्रशस्त होते ही इनकी आवश्यकता नहीं रह जाती। भगवान् स्वयं उस साधक की उँगली पकड़कर चलाने लगते हैं और जैसा कि मानस में है- “उमा राम सुभाउ जिन्ह जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना।।” जब भगवान् का प्रभाव, उनकी महिमा, उनका स्वभाव देखने को मिलने लगता है तो भजन छोड़कर दूसरा कुछ भी रुचिकर नहीं लगता। सृष्टि में कोई जन्मा ही नहीं जो उसे भजन से अलग कर दे। जब तक भजन की ऐसी जागृति नहीं हो जाती, सुख-दुःख प्रभावित करते ही हैं। अभी समझाना पड़ता है कि साधना ऐसे करो, यह मत करो; जहाँ जागृति हो गई, समझाना नहीं पड़ता। जागृति के साथ ही जो साधक के हृदय में भगवान् हैं, स्वयं समझाने लगते हैं। स्वर्ग और नरक का उसके लिए कोई अर्थ नहीं रह जाता।



प्रश्न १३ :- क्या धर्म राष्ट्र तक ही सीमित होता है?

उत्तर :- राष्ट्र, नस्ल, प्रजाति, भाषा, भू-भाग, मजहब या सम्प्रदाय इत्यादि के नाम पर भावात्मक एकता का संगठन है जो इसी तरह के दूसरे संगठनों से मनुष्य की अलग पहचान बनाता है। राष्ट्र तक आपकी सीमाएँ हो सकती हैं, धर्म की नहीं। जहाँ तक यह मानव-तन है, वहाँ तक धर्म का राष्ट्र है। उत्तरी ध्रुव से दक्षिणी ध्रुव तक जहाँ भी मनुष्य है, उसके हृदय में जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि का भयंकर वेग चल रहा है। वह इन दुःखों का अन्त और सहज सुख की प्राप्ति की तलाश में है। मनुष्य के दुःखों का निवारण और सहज सुख की प्राप्ति का साधन होने से धर्म की सीमा मानव मात्र तक है।

कदाचित् किसी ग्रह में मनुष्यों की और भी आबादी है तो उसके लिए भी यही धर्म है। मनुष्य दुःखी है। यदि दुःखी नहीं तो लड़ क्यों रहा है? लड़कर किसे सामने से हटा रहा है? हटा देने पर भी वह कुछ नहीं पाता, लेकिन गीता एक ऐसा युद्ध है जिसमें एक बार विजय मिल गयी तो उसके पीछे हार नहीं। विजय में शाश्वत धाम, अमृतमय पद है और यदि चिन्तन करते-करते इसके पूर्व ही शरीर का समय समाप्त हो गया और निवृत्ति नहीं हुई तब भी वह दैवी सम्पद् प्राप्त कर लेता है। ईश्वर-पथ में बीज का नाश नहीं है। इसका स्वल्प अभ्यास भी जन्म-मृत्यु के महान् भय से उद्धार करानेवाला होता है।

मानव मात्र का आदि धर्मशास्त्र गीता है। यह मानव-दर्शन है। भारत में इसका प्रादुर्भाव हुआ इसलिए यह भारतीयों का गौरव-ग्रन्थ है। भारत ने विश्व को जो अवदान दिया वह धर्मशास्त्र गीता है। विश्व के सभी धर्मशास्त्रों का उत्स गीता है। वेद इत्यादि ग्रन्थ गीता के ही विस्तार हैं; क्योंकि गीता पहले उतरी, वेदों का प्रादुर्भाव बाद में हुआ।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं- अर्जुन! इस अविनाशी योग को कल्प के आदि में मैंने सूर्य से कहा। कल्प अर्थात् सृष्टि का आरम्भ! सूर्य ने अपने पुत्र आदि मनु से इसे कहा। दिया कुछ नहीं बल्कि जुबान से कहा। कही हुई वस्तु सुनकर हृदय में धारण की जाती है, अंतःकरण में इसी याददाश्त को स्मृति कहा जाता है। मनु ने इस स्मृति-ज्ञान को सबके लिये सुलभ कराने के लिए स्मृति की परम्परा दी। उन्होंने इस स्मृति को अपने पुत्र इक्ष्वाकु से कहा। उनसे राजर्षियों ने जाना। इस महत्त्वपूर्ण काल से यह अविनाशी योग इसी पृथ्वी में लुप्त हो गया था। वही पुरातन योग अब मैं तेरे प्रति कहने जा रहा हूँ; क्योंकि तू मेरा प्रिय भक्त और अनन्य सखा है।

अर्जुन ने भगवान् से अनेक प्रश्न किये। आपका जन्म अब हुआ, सूर्य का जन्म तो बहुत पुराना है, कल्प के आदि में आपने ही कहा था, मैं कैसे मान लूँ? वह प्रश्न-परिप्रश्न करने लगा। भगवान् उत्तर देते चले गये। अंत में अर्जुन का समाधान हो गया। जो प्रश्न वह नहीं कर सकता था, जीव की समझ से बाहर थे, ऐसे कुछ प्रश्न भगवान् ने स्वयं उठाये कि अर्जुन! जानते हो ईश्वर कहाँ रहता है? अंत में भगवान् ने पूछा, "अर्जुन! क्या तुमने मेरे उपदेश को

एकाग्रचित्त होकर श्रवण किया? क्या तुम्हारा मोह से उत्पन्न अज्ञान नष्ट हुआ?" तब अर्जुन ने कहा-

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।

स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।। गीता, १८/७३

प्रभु! अज्ञान से उत्पन्न मेरा मोह नष्ट हो गया। स्मृतिर्लब्धा-जो सूर्य से मनु, मनु से इक्ष्वाकु को स्मृति-परम्परा मिली थी, आज मैं उस स्मृति को प्राप्त हो गया हूँ।

उस युग में लेखन के साधन सुगम न थे। श्रुत अर्थात् सुनो और स्मृत अर्थात् याद रखो की परम्परा थी। अर्जुन ने कहा कि मैं उसी स्मृति को प्राप्त हुआ हूँ। मैं आपके आदेश का पालन करूँगा। उसने धनुष उठा लिया, युद्ध हुआ। अर्जुन की विजय हुई। एक धर्मसाम्राज्य की स्थापना हुई। युधिष्ठिर-जैसे धर्मात्मा नरेश अभिषिक्त हुए। एक धर्मशास्त्र गीता पुनः प्रसारण में आ गयी। इस प्रकार गीता आपका धर्मशास्त्र सृष्टि के आदि में थी, इक्ष्वाकु वंशज राम के समय त्रेता में थी, इसके पश्चात् गीता-ज्ञान विस्मृत हो चला तो भगवान श्रीकृष्ण ने इसे द्वापर में पुनः प्रकाशित किया। द्वापर में गीता धर्मशास्त्र के रूप में पुनर्प्रतिष्ठित हुई। पुनः इस पर प्रतिबन्ध लगे कि "महाभारत मत पढ़ो अन्यथा घर में महाभारत हो जायेगा। महाविनाश का ग्रन्थ है महाभारत!" जबकि महाभारत आपका संस्कृति शास्त्र है। परमात्मा का स्मरण करते हुए खान-पान, रहन-सहन, जीवन-यापन की विधि महाभारत में अंकित है, पूर्वजों की गौरव-गाथा है; किन्तु इस पर प्रतिबन्ध लगाया गया कि इसे पढ़ो ही मत, नहीं तो महाभारत हो जायेगा। इतना विशाल ग्रन्थ महाभारत है कि यदि इसे विधिवत् पढ़ा जाय तो एकाध वर्ष तो लग ही जायेंगे। इतने में परिवार में कोई घटना-दुर्घटना होना स्वाभाविक है। किसी का जन्म होगा या कोई बुजुर्ग वयोवृद्ध चल बसे तो दोष महाभारत-पाठ को दिया जाने लगा। महाभारत के अंतराल में 'भीष्म पर्व' में गीता है। जब महाभारत ही प्रतिबन्धित हो गया तो गीता कोई कैसे पढ़ता?

महापुरुषों ने गीता को महाभारत से निकाल कर स्वतंत्र पुस्तक बना दिया। तब गीता पर दूसरा प्रतिबन्ध लग गया कि यह तो संन्यासियों के लिये

है। तुम्हारा लड़का गीता पढ़ेगा तो साधु-संन्यासी हो जायेगा। साधु तो लड़का होता, वयोवृद्धों को तो पढ़ने देते? प्रतिबन्ध लगा कि गीता घर में ही मत रखो, गीता देखो मत, पढ़ो मत- जबकि गीता आप सबका धर्मशास्त्र है। हमारा धर्मशास्त्र और हम ही न देखें! गीता-ज्ञान लुप्त होते ही अनेकानेक धर्मशास्त्र गढ़े जाने लगे। जिसके जो मन में आया धर्म के नाम पर रचना करने लगा, आदरणीय ऋषियों के नाम से उन्हें चलाने लगा। धर्म, कर्म, यज्ञ की नई-नई परिभाषाएँ बना दी गयीं। 'तेरह कनौजिया चौदह चूल्हे' की कहावत चरितार्थ होने लगी।

कनौजिया ब्राह्मणों की एक शाखा थी। एक स्थान पर अग्नि जला लिया, पुनः उसी से अग्नि लेकर तेरह भाइयों ने अपने अलग-अलग भोजन पकाये। एक दूसरे का छुआ नहीं खा सकते, अग्नि में भी पवित्रता का ध्यान- यह था उनका धर्म! असंख्य कुरीतियाँ, रीति-रिवाज धर्मशास्त्र गीता के विस्मृत होने का दुष्परिणाम है। इससे समाज बिखर गया। आपसी फूट और पृथक् राष्ट्र का कारण बन गया धर्म!

गीता आपका धर्मशास्त्र है। इसके होते हुए कोई सम्प्रदाय, कोई मजहब, कोई कुरीति, धर्म कहलाने वाली कोई भ्रान्ति, उससे प्रेरित पृथक् राष्ट्र की माँग का सृजन हो ही नहीं सकता। धर्म का क्षेत्र राष्ट्र तक सीमित नहीं है बल्कि मानवमात्रपर्यन्त है।



प्रश्न १४ :- धर्मान्तरण क्या है? क्या धर्म परिवर्तनशील होता है?

उत्तर :- सबका धर्म एक है, अतः परिवर्तन का प्रश्न ही नहीं उठता। मनुष्य का स्वभाव दो प्रकार का होता है, देवताओं-जैसा और असुरों-जैसा। दैवी स्वभाववाला परिवर्तित होगा तो अधिक से अधिक आसुरी सम्पद् का शिकार हो जायेगा, अन्य कुछ भी नहीं होगा। कल्पना करें कि कोई दूसरा भी धर्म है तो यह सम्भव नहीं है; क्योंकि धर्म एक ही है। हाँ, आपकी अवस्थाएँ ऊँची-नीची आरंभिक पाठशालाएँ हैं। एक सीमा तक ये अलग-अलग प्रतीत होती हैं किन्तु साधना की एक निश्चित सीमा पार कर लेने पर महापुरुष के समक्ष लक्ष्य एक है। निरीक्षक-परीक्षक भी एक ही है। उसके निर्देशन में चलने

का नाम ही धर्माचरण है। इस स्तर के साधक एक माँ की सन्तान के रूप में परस्पर स्नेहिल व्यवहार रखते हैं। धर्मान्तरण की बात वे नहीं कर सकते। धर्मान्तरण के झगड़े शिशु कक्षाओं के हैं, धर्म के नहीं।

धर्म का अन्तरण नहीं, हास होता है। गीता के अनुसार, एक आत्मा ही सत्य है। इसे शस्त्र नहीं काट सकते, अग्नि जला नहीं सकती, वायु सूखा नहीं सकता, जल इसे गीला नहीं कर सकता, आकाश इसे अपने में विलीन नहीं कर सकता अर्थात् पंचभूतों (क्षिति, जल, पावक, गगन और समीर) से निर्मित कोई भी पदार्थ इस आत्मा का स्पर्श ही नहीं कर सकता तो किसी के हाथ का दो घूँट पानी पीने से, दो ग्रास चावल खा लेने से सनातन धर्म नष्ट कैसे हो गया? अविनाशी का विनाश, यह भ्रान्ति गीता के विस्मृत हो जाने का दुष्परिणाम था। नित्य, सत्य, सनातन धर्म भी क्या परिवर्तनशील हो सकता है?

गीता के अनुसार, सत्य सनातन केवल आत्मा है। उसे विदित करने की विधि, योग-विधि यज्ञ है। चौदह प्रस्तरों में गीता में यज्ञ समझाया गया है, जैसे-यज्ञस्वरूप महापुरुष की शरण, उसके स्वरूप का ध्यान, इन्द्रियों का संयम, ॐ का जप, श्वास-प्रश्वास का यजन, प्राणायाम इत्यादि। इस यज्ञ का परिणाम है ज्ञानामृत अर्थात् अमृत का ज्ञान, अजर-अमर-शाश्वत तत्त्व परमात्मा का ज्ञान और उस ज्ञानामृत का पान करनेवाला योगी सनातन ब्रह्म में स्थित हो जाता है। यज्ञ कोई ऐसी विधा है जो सनातन ब्रह्म में प्रवेश और स्थिति दिलाता है।

ये यज्ञ जिस उपाय से सम्पन्न होते हैं उसका नाम है कर्म। अब हल जोतने, सर्विस करने जैसे क्रिया-कलापों के परिणाम में परमात्मा मिलते हों तो करें; किन्तु ऐसा होता नहीं। यह कर्म शांत-एकान्त में चिन्तन द्वारा सचेतावस्था में करने से ही होता है।

सारांशतः सत्य, नित्य, सनातन है आत्मा। उसे विदित करने की योग-विधि यज्ञ है। इस यज्ञ को चरितार्थ करना कर्म है। कर्म की परिपक्व अवस्था में मृत्यु से परे अमृत तत्त्व का ज्ञान और स्थिति है। इस कर्म को करने की दृष्टियाँ दो हैं- ज्ञानमार्ग और निष्काम कर्मयोग।

ज्ञानमार्ग का यह अभिप्राय नहीं है कि हाथ पर हाथ रखकर बैठ जायँ और कहते रहें कि मैं आत्मा हूँ, ब्रह्म हूँ, पूर्ण हूँ, मैं शरीर नहीं हूँ। ज्ञानमार्ग में भी

युद्ध करना है, विजातीय प्रवृत्तियों का पार पाना है। हानि-लाभ का निर्णय स्वयं लेकर जानकारी रखते हुए कर्म में प्रवृत्त होना ज्ञानयोग है। इसके दो परिणाम हैं- हारने पर देवत्व और जीतने पर महामहिम स्थिति। हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्॥ (गीता, २/३७)

इसी को अब निष्काम कर्मयोग के विषय में सुन, जिससे तू कर्म-बन्धन का भली प्रकार नाश कर सकेगा। भगवान ने निष्काम कर्म की पहली विशेषता बतायी कि यह कर्मों का बन्धन- जन्म-मृत्यु का कारण जो बन्धन है, उसका अंत कर देता है। कर्म की दूसरी विशेषता बताते हुए भगवान ने 'धर्म' शब्द का प्रयोग किया-

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥ गीता, २/४०

अर्जुन! इस निष्काम कर्मयोग में आरम्भ का नाश नहीं है। शुरू करें, दो कदम ही चल पायें फिर भी आपका कभी विनाश नहीं है। अगले जन्म में तीसरा ही कदम उठेगा और बढ़ेगा। प्रकृति केवल आवरण डालती है। वे भी आपके ही कभी के संस्कार हैं वही आवरण बन जाते हैं। कुछेक जन्मों के अनन्तर आप वहाँ होंगे जिसका नाम परमगति है, परमधाम है। जो मेरा निज स्वरूप है, अमृतमय पद है।

भगवान ने निष्काम कर्म की दूसरी विशेषता पर प्रकाश डाला कि इसमें आरम्भ का नाश नहीं है। तीसरी विशेषता, सीमित फलरूपी दोष नहीं है कि स्वर्ग, बैकुण्ठ या ऋद्धियों-सिद्धियों में आपको उलझाकर छोड़ दे। यह तो सीमित फल ही हुआ कि मार्ग में ही हम किसी प्रलोभन में रुक जायँ। इस धर्म का स्वल्प अभ्यास (आधा नहीं, चौथाई नहीं, मात्र स्वल्प अभ्यास) भी जन्म-मृत्यु के महान् भय से उद्धार करनेवाला होता है।

इस निष्काम कर्म की चौथी विशेषता है-

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।

बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥ गीता, २/४१

अर्जुन! इस निष्काम कर्मयोग में निश्चयात्मक क्रिया एक ही है। कुछ भी कर डालना धर्म नहीं है। जब उस कर्म को कार्यरूप देने का प्रश्न आया तब

भगवान् श्रीकृष्ण ने धर्म शब्द का प्रयोग किया। इस धर्म के द्वारा हम उस परमात्मा को धारण करते हैं जिसमें निश्चयात्मक क्रिया एक है, बुद्धि एक है। जो बहुत-सी क्रियाएँ बताते हैं, क्या वह भजन नहीं है? भगवान् कहते हैं, अविवेकियों की बुद्धि अनन्त शाखाओं वाली होती है, इसलिए वे अनन्त क्रियाओं का विस्तार कर लेते हैं। वे दिखावटी शोभायुक्त वाणी में उसे व्यक्त भी करते हैं। उनकी वाणी की छाप जिन-जिन के चित्त पर पड़ती है, अर्जुन! उनकी भी बुद्धि नष्ट हो जाती है, न कि वे कुछ पाते हैं। वे 'स्वर्गपराः'— स्वर्ग को ही सर्वोपरि लक्ष्य मानते हैं कि ऐश्वर्य मिले, भोग मिले। जो इन वासनाओं में आसक्त हैं वही इसे सुनते हैं और फँस जाते हैं। सब न इन्हें सुनते हैं न फँसते हैं। वे जन्म-मृत्युरूपी फल देनेवाली अनन्त क्रियाओं में भटकते ही रहते हैं।

जब धर्म की निश्चयात्मक क्रिया एक है, दूसरा धर्म है ही नहीं तो धर्म-परिवर्तन कैसे हो जायेगा? हमारी साधना का स्तर हल्का, मध्यम और उन्नत हो सकता है, साधना से वासना की ओर विचलित हो गये तो हास हो सकता है; किन्तु धर्म का विनाश नहीं होता। रूढ़ियाँ परिवर्तित होती हैं, परम्पराएँ-प्रथाएँ परिवर्तित होती हैं, धर्म का परिवर्तन नहीं होता। रहन-सहन बदलता है, धर्म नहीं।

संक्षेप में, धर्म परमात्मा एक, उसे धारण करने की विधि एक, उस विधि में नियत क्रिया एक, भजन जागृत हुआ तो सुविधा एक-जैसी, निरीक्षण-परीक्षण एक-जैसा, परिणाम एक परमात्मा में स्थिति, अमृतमय परमपद की प्राप्ति एक-जैसा ही है तो धर्मान्तरण कैसा?

साधनकाल में कभी-कभी साधक के मन में सुख-भोग की इच्छा प्रबल हो उठती है। वह माँग बैठता है- 'प्रभु जन्नत चाहिए, स्वर्ग चाहिए' भगवान् कहते हैं कि मैं देता हूँ।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं

क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।। (गीता, ९.२१)

वह विशाल स्वर्ग का उपभोग करता है और पुण्य क्षीण हो जाने पर वहीं गिर जाता है जहाँ से चलना आरम्भ किया था। वह बेचारा कंगाल का कंगाल। स्वर्ग का भोग तो चला गया। आ गया फुटपाथ पर, सिंहासन लुप्त हो गया;

किन्तु नश्वर तो माँगा ही था। उसे समाप्त होना ही था। भोग भले ही नष्ट हो जाय, उस भक्त का कभी विनाश नहीं होता; क्योंकि भगवत्पथ में बीज का नाश नहीं होता। जहाँ से छूटा है वहीं से पुनः आगे बढ़ना है तो धर्मान्तरण कैसा? अन्तरण परम्पराओं, प्रथाओं का होता है, धर्म का नहीं।

विश्वभर में एक ही धर्माचरण है- एक परमात्मा के प्रति समर्पण, उन्हें जो सम्बोधित करता हो ऐसे उनके किसी दो-ढाई अक्षर के नाम का जप, तत्त्वदर्शी महापुरुष की शरण एवं उनका सान्निध्य, जैसा कि धर्मशास्त्र गीता में निर्दिष्ट है।



प्रश्न १५ :- धर्म में उपासना स्थलों (मन्दिर, मस्जिद, चर्च आदि) का क्या महत्त्व है?

उत्तर :- ये प्रार्थना-स्थलियाँ हैं। प्रत्येक ग्राम-नगर, घर-घर जाकर कोई महापुरुष सत्य का प्रचार नहीं कर सकता। पूर्वकाल में महापुरुषों ने शिवलिंग की स्थापना कर दी। लिंग का अर्थ है चिह्न। वह ईश्वर एक है। वह ज्योतिर्मय है। उसी एक की शरण जाओ। शिवलिंग का अभिप्राय इतना ही है। जो भी महापुरुष ज्योतिर्मय परमात्मा की उपलब्धिवाले थे, उनका शरीर छूटा तो भक्तों ने उनकी स्मृति में एक शिवलिंग स्थापित कर दिया और उन महापुरुष का नाम भी उससे जोड़ दिया। ज्योतिर्लिंगों ने क्रमशः मन्दिरों का रूप ले लिया। जो महापुरुष चले गये, मन्दिर उनके पीछे श्रद्धालु भक्तों द्वारा सँजोयी हुई स्मृति है।

मन्दिर, मस्जिद, चर्च, गुरुद्वारा में- गुरु महाराज ने क्या पाया? क्या राह दिखायी? इसका उपदेश चलता है। कदाचित् उपदेश नहीं चलता और केवल मन्दिर है, तो वह अभी अधूरा है। दीवालें तो कुछ कहती नहीं। उन महापुरुष के सन्देश भी जन-जन तक पहुँचना चाहिए।

मन्दिरों में अनन्तकाल से ईश्वर की उपलब्धिवाले कैवल्यपदप्राप्त तत्त्वदर्शी महापुरुषों की प्रतिमायें हैं, उनसे सभी आशीर्वाद लेते हैं, वे हमारे प्रेरणा-स्रोत हैं। यदि इन स्मारकों में यह नहीं बताया जाता कि किस महापुरुष की प्रतिमा है, उन्होंने क्या संदेश दिया तो उस मन्दिर का दुरुपयोग है। यदि वहाँ गीतोक्त

एक परमात्मा का सन्देश दिया जाता है, परमात्मा को प्राप्त करने की गीतोक्त विधि बतायी जाती है तो मन्दिर का सदुपयोग है। यदि वहाँ अनेक क्रियाओं की धूर्तता बतायी जाती है तो समझें कि लोगों ने गढ़ लिया है, मूढबुद्धि अविवेकियों की देन है।

मन्दिर खुली पुस्तकें हैं, श्रद्धा के केन्द्र हैं। यदि उन मन्दिरों में गीतोक्त एक परमात्मा ही सत् है और उसे प्राप्त करने की विधि पर प्रकाश नहीं डाला जाता तो वह उस विद्यालय के समान है जहाँ अध्यापक नहीं हैं, केवल घण्टे बज रहे हैं। इसलिए गीता का प्रसारण प्रत्येक मन्दिर से होना ही चाहिए।

महापुरुषों ने जहाँ जन्म लिया, तपस्या की, जहाँ उपदेश किया, जहाँ जप किया, जहाँ महाप्रयाण को प्राप्त हुए, उन सभी स्थलियों पर श्रद्धालुओं ने स्मारक बनाये। यही मन्दिर, मस्जिद, चर्च और गुरुद्वारों का इतिवृत्त है, इसके अतिरिक्त कहीं कुछ नहीं है। धर्म के नाम पर जितने भी सम्प्रदाय, उप-सम्प्रदाय बने हैं- सब के सब महापुरुषों के पीछे श्रद्धालुओं का सिमटा हुआ संगठन है; किन्तु उस महापुरुष ने क्या पाया? क्या साधना दी?— यदि इस पर प्रकाश नहीं डाला गया तो उनसे प्रेरणा कैसे मिलेगी? आरम्भिक प्रेरणा इन स्थलियों से ही मिलती है किन्तु सम्पूर्ण साधना को प्राप्त करने के लिए किसी तत्त्वदर्शी महापुरुष की शरण ही जाना पड़ेगा। उन्हीं के द्वारा भक्ति की जागृति होती है। “भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलइ जो सन्त होइँ अनुकूला।। (मानस, ३/१५/२) लक्ष्मण! भक्ति अनुपम सुख की मूल है; किन्तु यह मिलेगी तब जब सन्त अनुकूल हों, सीधा तो मैं भी नहीं दे सकता। यह शून्य में नहीं फलित होती। किसी तत्त्वदर्शी महापुरुष के द्वारा हृदय में यह साधना जागृत हो जाती है, तो भगवान बोलने लगते हैं, बातें करने लगते हैं, उठाने-बैठाने-चलाने लगते हैं।



प्रश्न १६ :- धर्म कहाँ से प्राप्त करें?

उत्तर :- भगवान श्रीकृष्ण से अर्जुन ने यही प्रश्न किया था कि “प्रभु! जिस साधना का परिणाम ज्ञानामृत है, ‘अमृत’ अर्थात् जहाँ मृत्यु का समावेश नहीं है, जो अजर-अमर-शाश्वत है उस परमात्मा का ज्ञान और तत्क्षण ब्रह्म में स्थिति- उस ज्ञान को मैं कैसे प्राप्त करूँ?”

भगवान ने कहा-

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।। गीता, ४/३४

अर्जुन! किसी तत्त्वदर्शी महापुरुष के पास जाकर निष्कपट भाव से सेवा और प्रश्न कर तू उस ज्ञान को प्राप्त कर। वे तत्त्व के ज्ञाता तुझे उस ज्ञान का उपदेश करेंगे। 'यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।' (गीता, ४/३५) उसे जान लेने के पश्चात् तुम्हें जीवन में कभी सन्देह नहीं होगा और जब उसके अनुसार अभ्यास करोगे तो तुम उस ज्ञान को अपने हृदय-देश में प्राप्त करोगे। इस प्रकार धर्म की प्राप्ति के लिए भगवान ने तत्त्वदर्शी की शरण भेजा।

गीता के समापन पर भगवान ने इस पर पुनः प्रकाश डाला- ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना। (१८/१८) परिज्ञाता अर्थात् पूर्णज्ञाता महापुरुष, उनके द्वारा बताया साधन अर्थात् ज्ञान और किसका भजन करें अर्थात् ज्ञेय- इन तीनों की जानकारी मिलने से कर्म की प्रेरणा मिलती है और 'करणं कर्म कर्तेति' (१८/१८) इन तीनों के द्वारा कर्म का संग्रह होता है।

अतः प्रत्येक दशा में धर्म को प्राप्त करने के लिए किसी तत्त्वदर्शी महापुरुष की शरण ही जाना होगा। अन्य कोई मार्ग नहीं है। उन्हीं से आप धर्म की विशुद्ध विधि प्राप्त करेंगे। कितानें पढ़ने से पुण्य-पुरुषार्थ की अभिवृद्धि हो सकती है, धर्म की जागृति नहीं हो सकती।



प्रश्न १७ :- ईश्वर का निवास कहाँ है?

उत्तर :- अर्जुन ने यह प्रश्न नहीं किया था। लगता है इतना सूक्ष्म प्रश्न करने की क्षमता नहीं थी। इसीलिये गीता के समापन से पूर्व जब अर्जुन प्रश्न करके शान्त हो गया, भगवान ने यह प्रश्न स्वयं उठाया और पूछा, "अर्जुन! जानते हो, भगवान कहाँ रहते हैं?" स्वयं ही उन्होंने इसका उत्तर भी दिया-

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।।१८/६१

अर्जुन! वह ईश्वर, परमतत्त्व परमात्मा समस्त भूतों के हृदय-देश में निवास करता है। भूत का अर्थ प्राणी होता है अर्थात् ईश्वर प्राणिमात्र के हृदय-देश में निवास करता है।

'भूत' वैदिककाल का बहुत सम्मानित शब्द है। भूत अर्थात् प्राणी। ईश्वर प्राणिमात्र के हृदय-देश में निवास करता है। हृदय के अन्दर इतना समीप है फिर भी लोग देखते क्यों नहीं? भगवान कहते हैं- लोग मायारूपी यन्त्र में आरूढ़ होकर भ्रमवश भटकते ही रहते हैं, इसलिये नहीं देख पाते। मायारूपी यन्त्र में वे स्वयं दौड़कर चढ़ जाते हैं। कितना भी समझाएँ, दिनभर ज्ञान सुनेंगे लेकिन कोई न कोई पैतरा भाँजकर सुरा-सुन्दरी में उलझ जायेंगे।

जब ईश्वर हृदय में है तो हम शरण किसकी जायँ? अगले ही श्लोक में भगवान कहते हैं-

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।

तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥ गीता, १८/६२

अर्जुन! उस हृदयस्थित ईश्वर की शरण जाओ। 'सर्वभावेन'- सम्पूर्ण भावों से जाओ। थोड़ा भाव संकटमोचन, थोड़ा भाव पशुपतिनाथ, कुछ भाव वैष्णव देवी, कुछ भाव बम्बा देवी, कुछ मैहर देवी, कुछ गड़बड़ा देवी- हमारा तीन चौथाई भाव तो बिखर गया। मन एक है, उसका भाव इतनी जगह वितरित हो गया। भगवान के लिए स्वल्प अंश ही बचा पाये। इस प्रकार से कल्याण नहीं होगा। सम्पूर्ण भावों से हृदयस्थित ईश्वर की शरण जाओ।

मान लें, हमने सारी मान्यतायें तोड़ीं और हृदयस्थित ईश्वर की शरण चले ही गये तो उससे लाभ क्या होगा? 'तत्प्रसादात्परां शान्तिं'- उसके कृपा-प्रसाद से परमशान्ति को प्राप्त कर लो और 'स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्'- उस निवास स्थान को पा जाओगे जो शाश्वत है, अजर-अमर है। तुम रहोगे और तुम्हारा निवास शाश्वत रहेगा।

रूढ़ियाँ सुदीर्घ परम्परा से चली आ रही हैं। ये हमें विरासत में मिली हैं। बचपन से ही माताएँ बच्चों से कहती हैं, 'अगरबत्ती जला, यह भुइयाँ रानी हैं, यह चौरा माँ, यह डीह, यह कुल देवता भैरव!' बड़े होते-होते बच्चों के मन में एक रील तैयार हो जाती है, जड़ता पकड़ लेती है, इसीलिये भाव बिखर जाता

है। भगवान कहते हैं- इन भावों को समेटकर हृदयस्थित ईश्वर की शरण में जाओ। ये पूर्वाग्रह शीघ्र पीछा नहीं छोड़ते। यदि पूर्वाग्रहों से मुक्त हो सर्वभाव से शरण में गये तो उनकी कृपा से परमशान्ति, सदा रहनेवाला धाम, अनन्त जीवन, अमृतमय पद और समृद्धि प्राप्त कर लेंगे- इसी का नाम निजस्वरूप है।

हृदय स्थित ईश्वर को हमने देखा नहीं तो शरण किसकी जायँ? श्रीकृष्ण ने कहा- मेरी शरण में आ जाओ अर्थात् किसी तत्त्वदर्शी महापुरुष की शरण जाओ।



प्रश्न १८ :- परमात्मा ही सत्य है तब देव-पूजा क्या है?

उत्तर :- गीता में भगवान श्रीकृष्ण का स्पष्ट आश्वासन है कि मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता। स्वल्प अभ्यास भी पार लग गया तो अगले जन्म में जहाँ से छूटा था वहीं से अभ्यास ही करेगा। अनेक जन्मों के परिणाम में वह वहाँ पहुँच जायेगा जो परमगति है, परमधाम है, मेरा निजस्वरूप है। फिर भी कामनाओं से जिनकी बुद्धि आक्रान्त है, ऐसे मूढ़बुद्धि अविवेकीजन अन्य-अन्य देवी-देवताओं की पूजा करते हैं। जहाँ वे पूजा करते हैं वहाँ देवता नाम की कोई सक्षम सत्ता नहीं होती; किन्तु मनुष्य की श्रद्धा भूत-भवानी में, पेड़-पौधे में, नदी-नाले में, ग्रह-उपग्रह में जहाँ कहीं भी टिक जाती है, उस देव-श्रद्धा को मैं ही पुष्ट करता हूँ, उसके लिए फल का विधान मैं ही करता हूँ। फल भी तत्काल मिलता है, भोगने में आता है और नष्ट हो जाता है; किन्तु मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता।

जब फल मिल ही जाता है, भले ही नष्ट हो जाता है, हमें तो तत्काल आवश्यकता थी, उतना तो मिल ही गया, तब देव-पूजा से क्षति ही क्या है? भगवान गीता के अध्याय ९ में अर्जुन से कहते हैं- देवपूजक मेरे ही पुजारी हैं; किन्तु वे अविधिपूर्वक पूजते हैं इसलिये नष्ट हो जाते हैं। जब चिन्तन करना ही है तो विधिपूर्वक क्यों न करें।

देवपूजक को यह भान हो जाय कि जिसकी मैं पूजा करता हूँ, वह कमजोर है, तो वह पूजा छोड़ देगा। अपनी समझ से तो वह सर्वशक्तिमान, सर्वत्र व्याप्त, ज्योतिर्मय सत्ता की तलाश में है। हाँ, उसे विधि ज्ञात नहीं है।

पुरुष श्रद्धा का पुतला है, कहीं न कहीं उसकी श्रद्धा होगी ही। उसे जिसने जिधर उँगली घुमा दी, उधर ही वह घूम जाता है। वह अनजान में मेरा ही पुजारी है, मुझे ही ढूँढ़ रहा है। वह कण-कण में व्याप्त, सर्वशक्तिमान प्रभु परमात्मा को ही ढूँढ़ रहा है। हाँ, वह पूजन अविधिपूर्वक है इसलिए नष्ट हो जाता है।

परमात्मा को विदित करने की विधि गीता है। भगवान ने कहा- अर्जुन! हम दोनों के इस संवाद को भूले-भटके भक्त लोगों में जो कहेगा उसके समान मेरा प्रिय कार्य करनेवाला दुनिया में और कोई नहीं होगा। जो इसका श्रवण कर लेगा, उसके द्वारा मैं भली प्रकार पूजित हो जाऊँगा, वह मुझे प्राप्त करेगा। और जो केवल कानों से सुन भर लेगा वह भी उत्तम लोकों को प्राप्त होगा। गीता आपका ऐसा धर्मशास्त्र है कि इसका श्रवण करने मात्र से उत्तम लोक, कहनेवाला मेरा प्रिय और जिसने इसके अनुसार चलना आरम्भ कर दिया वह मुझे प्राप्त कर लेता है, मेरे इस भगवत् स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। प्राप्ति की सम्पूर्ण विधि गीता ही है।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।

न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥ गीता, १६/२३

इस शास्त्र-विधि को त्यागकर अन्य-अन्य विधियों से जो भजते हैं उनके जीवन में न सुख है, न सिद्धि है और न परमगति ही है। वे सबसे वंचित हो जाते हैं, कुछ नहीं पाते। उनका समर्पण व्यर्थ चला जाता है।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य व्यवस्थितौ।

ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥१६/२४॥

इसलिए तुम्हारे कर्तव्य और अकर्तव्य की व्यवस्था में यह शास्त्र ही प्रमाण है। गीता भली प्रकार समझकर आचरण कर, तू मुझमें निवास करेगा।

देवपूजक साधक को साधना की सही विधि नहीं मिली है। वह इतना गया-बीता नहीं है कि उसे समाप्त कर दिया जाय। वह केवल भूला हुआ है, आवश्यकता उसके मार्गदर्शन की है।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।

एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्याकृतकृत्यश्च भारत॥ गीता, १५/२०

अर्जुन! यह गोपनीय से भी अति गोपनीय धर्मशास्त्र मेरे द्वारा कहा गया। इसे जानकर तू समग्र अनुभूति, कैवल्यज्ञान और परमश्रेय को प्राप्त कर लेगा।

शास्त्र के नाम पर भटककर अन्य कुछ ढूँढ़ने न लग जायँ। गीता अपने आप में सम्पूर्ण शास्त्र है, यह अपौरुषेय वाणी है। मनुष्य के प्रादुर्भाव से पहले ही गीता का आविर्भाव है। यह परमात्मा का सीधा प्रसारण है।



प्रश्न १९ :- सत्य क्या है और नश्वर क्या है?

उत्तर :- गीता के अध्याय दो में अर्जुन ने प्रश्न रखा, “गोविन्द! कुलधर्म सनातन है, कुलधर्म शाश्वत है, जातिधर्म ही सत्य है। ऐसे नरसंहार के पश्चात् कुल की स्त्रियाँ दूषित हो जायेंगी, वर्णसंकर पैदा होंगे।” वह सामाजिक जीवन खान-पान, रहन-सहन, कुल, जाति, वर्ण को सनातन मानकर युद्ध से विरत होना चाहता था।

भगवान ने हँसते हुए से कहा, “अर्जुन! इस विषम स्थल में यह अज्ञान तुझे कहाँ से उत्पन्न हो गया। यह न कीर्ति बढ़ानेवाला है न कल्याण ही करने वाला है। न ही पूर्व के वरिष्ठ महापुरुषों ने भूलकर भी इसका आचरण किया, न प्रत्यक्षदर्शी महापुरुषों ने ही ऐसा आदेश दिया है। तुझे यह अज्ञान कहाँ से उत्पन्न हो गया?”

अर्जुन धर्म की रक्षा के लिए प्राण देने को तैयार है। वह कुलधर्म, जातिधर्म को शाश्वत सनातन धर्म मानता था, वह पिण्डोदक क्रिया लुप्त होने के विचार से बेचैन था, वह स्त्रियों को दूषित होने से बचाना चाहता था; किन्तु इन सामाजिक व्यवस्थाओं को भगवान ने अज्ञान कहकर सम्बोधित किया। आज की प्रचलित स्मृतियों में भी इतना ही कुछ लिखा है- जीने-खाने की पद्धतियाँ, नश्वर शरीर और उसके जीवनयापन की व्यवस्थाएँ। ‘अनार्यजुष्टम्’-श्रीकृष्ण ने कहा, यह अनार्यों का चरित्र तूने कहाँ से सीख लिया। गीता आर्यसंहिता है।

तब अर्जुन ने पूछा, “भगवन् ! आप ही बतायें कि सत्य क्या है?”

भगवान बोले-

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः।। गीता, २/१६

अर्जुन! सत्य वस्तु का तीनों कालों में अभाव नहीं है, उसे मिटाया नहीं जा सकता और असत् का अस्तित्व नहीं है, उसे रोका नहीं जा सकता, वह ही नहीं। अर्जुन! आत्मा ही सत्य है और भूतादिकों के शरीर नाशवान हैं। प्राणीमात्र के शरीर नाशवान हैं।

नाशवानों की शृंखला में आता कौन-कौन है?—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।

मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।।८/१६

अर्जुन! सृष्टि के रचयिता विधाता और उनसे उत्पन्न यावन्मात्र जगत्, देव-दानव-मानव सभी पुनरावर्ती स्वभाव वाले हैं, दुःखों की खान हैं, क्षणभंगुर हैं; किन्तु मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता। आत्मा, मेरा भक्त, ब्रह्म, पुरुषोत्तम, परमात्मा इत्यादि उस एक ही तत्त्व के सम्बोधन हैं, पर्याय हैं। शरीर नाशवान है इसलिये तू युद्ध कर! यह अलग प्रश्न है कि शरीर का कैसे अंत हो? युद्ध में विजय कैसे हो? यही तो गीता की सम्पूर्ण साधना है।



प्रश्न २० :- अधम कौन है? कर्म क्या है? यज्ञ क्या है?

उत्तर :- योग-विधि यज्ञ है। उस विधि को क्रियान्वित करना कर्म है। यज्ञ के द्वारा देवताओं की उन्नति करो, देवता तुम्हारी उन्नति करेंगे। परस्पर उन्नति करते हुए परमश्रेय को प्राप्त हो जाओ। इसके पश्चात् दैवी सम्पद् की आवश्यकता नहीं और तुम भी अलग नहीं हो। देवता हृदय की वस्तु है।

सोलहवें अध्याय में श्रीकृष्ण कहते हैं कि, अर्जुन! प्राणियों के स्वभाव दो प्रकार के होते हैं, देवताओं-जैसा और आसुरों-जैसा। दैवी सम्पद् परमकल्याण के लिए है और आसुरी सम्पद् अधोगति और नीच योनियों में भटकाने के लिये है। दैवी सम्पद् के लक्षण बताये, जो सब के सब तो किसी करीब पहुँचने वाले महापुरुष के लक्षण हैं, आंशिक रूप से आप में भी हैं। जो परमदेव परमात्मा का देवत्व अर्जित करा दे उसका नाम दैवी सम्पद् है और जो देवत्व अर्जित न कराये, प्रकृति के अन्धकार की ओर प्रवृत्त करे, आसुरी सम्पद् है।

आसुरी सम्पद् को प्राप्त पुरुष अपने को ही ईश्वर और ऐश्वर्य का भोक्ता मानता है। वह समझता है कि स्त्री-पुरुष के संयोग से यह सृष्टि है, भगवान

नाम की कोई वस्तु नहीं है। मेरे पास इतना धन है, इतना और होगा। वह शत्रु मेरे द्वारा मारा गया, उसे मारूँगा। वह अनन्त इच्छाओं, अनन्त वासनाओं से आक्रान्त रहता है।

आसुरी सम्पद् को प्राप्त पुरुष कहता है कि मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा और यश प्राप्त करूँगा। शास्त्र-विधि से रहित, गीतोक्त नियत विधि से रहित, नाममात्र के यज्ञों से जो दम्भ से यजन करते हैं वे क्रूरकर्मी, पापाचारी और मनुष्यों में अधम हैं। वे करते हैं कर्म; किन्तु हो जाते हैं क्रूरकर्मी। वे आचरण करते हैं यज्ञ का; किन्तु पापाचारी हैं। वे ही नराधम हैं। क्या भजन करनेवाला भी अधम होता है। यज्ञ है नहीं लेकिन यज्ञ नाम दे रखा है। कुछ उल्टा-सीधा बोल दिया, हो गया यज्ञ। ऐसे नराधम मुझ अंतर्यामी परमात्मा से द्वेष करने वाले हैं। मनुष्य मनुष्य से द्वेष करके कदाचित् बच भी जाय, क्या ये भी बच जायेंगे? कृष्ण कहते हैं- कदापि नहीं, ऐसे नराधमों को मैं बारम्बार आसुरी योनियों में गिराता हूँ। दुश्मनी हो गयी भगवान से! बचकर कहाँ जायेंगे?

अतः शास्त्र-विधि एक, योग-विधि यज्ञ, उसे चरितार्थ करना कर्म, कर्म भी एक- नियत कर्म, अन्य सभी भ्रामक हैं। इस कर्म को आचरण में ढालना धर्माचरण है। शास्त्र-विधि को छोड़कर कल्पना से कुछ गढ़ लेना और कहना कि यज्ञ है, वही नराधम है, अन्य कोई अधम नहीं है।



प्रश्न २१ :- क्या जातियाँ भगवान द्वारा बनायी गयी हैं? वर्ण क्या है?

उत्तर :- वर्ण साधना के सोपान हैं। कर्म गीता के अनुसार आराधना है, चिन्तन है। एक ही कर्म को उन प्रभु ने चार भागों में बाँटा है। चातुर्वर्ण्य मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः। (४/१३) चार वर्णों की संरचना मैंने की। इतनी-सी अर्धाली को लेकर भारत सहस्रों जातियों, उपजातियों में बँट गया, गुलाम हो गया। लोगों ने मान लिया कि चार वर्ण भगवान ने बनाये। यह नहीं देखा कि भगवान ने क्या बाँटा? क्या मनुष्यों को बाँटा? भगवान कहते हैं, 'गुणकर्म विभागशः'- गुणों के माध्यम से कर्म को चार भागों में बाँट दिया। यदि कर्म समझ में आ जाय तो बँटवारा भी समझ में आ जायेगा।

गीता के अनुसार, 'यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।' (३/९) अर्जुन! यज्ञ को कार्यरूप देना कर्म है। यज्ञ एक निश्चित विधि है। इसके अतिरिक्त अन्यत्र जो कुछ किया जाता है, वह इसी लोक का एक बन्धन है, न कि कर्म। योग-विधि, साधन-पद्धति को कार्यरूप देना कर्म है। कर्म माने चिन्तन। अर्जुन! इस कर्म को करके 'मोक्ष्यसेऽशुभात्' (४/१६)-अशुभ अर्थात् संसार-बन्धन से भली प्रकार मुक्त हो जाओगे।

एक ही कर्म-पथ को चार भागों में बाँटा है। गुणों के दबाव के अनुसार आप चिन्तन करते हैं तो आरंभ में आपका मन नहीं लगता। उस समय आप अल्पज्ञ हैं, क्षुद्र हैं, शूद्र हैं; क्योंकि तामसी गुणों का बाहुल्य है। ऐसी दशा में 'परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥' (१८/४४)- सत्पुरुषों की सेवा और शरण-सान्निध्य से विधि जागृत हो जायेगी, साधना हृदय से जागृत हो जायेगी।

विधि जागृत होने के पश्चात् दैवी सम्पद् का अर्जन वैश्य श्रेणी, साधना उन्नत होने पर संघर्ष झेलने की क्षमता आते ही क्षत्रिय श्रेणी में प्रोन्नति हो जाती है। भगवान् मन की लगाम पकड़कर साधक को चलाने लगते हैं। उनके संरक्षण में संघर्षशील होना क्षत्रिय है। यहाँ से आज्ञा पालन ही भजन कहलाता है। अंतिम विकार भी समाप्त हो गया, अब कोई शत्रु है ही नहीं, काटें किसे? तब ब्रह्म में विलय की योग्यता आ जाती है। उस समय-

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।

ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥ (१८/४२)

अर्जुन! मन का शमन, इन्द्रियों का दमन, मनसहित इन्द्रियों को इष्ट के अनुरूप तपाना, सरलता, धारणा, ध्यान, समाधि, वास्तविक जानकारी, अनुभवी उपलब्धि जब स्वभाव में ढल जाती है, वह ब्राह्मण है; यद्यपि अभी वह भी पूर्ण नहीं है, सात्त्विक गुण अभी उसमें जीवित है। प्रभु का दर्शन, स्पर्श, प्रवेश और स्थिति पा गया तो वही व्यक्ति "न ब्राह्मणो न क्षत्रियः न वैश्यो न शूद्रः चिदानन्दरूपो शिवोऽहं शिवोऽहम्॥" वह किसी श्रेणी का कर्ता नहीं है, वह परम आनन्दस्वरूप है। कैवल्यस्वरूप शिव मात्र शेष है।

गीता के समापन पर भगवान कहते हैं- ब्राह्मण क्षत्रिय विशां शूद्राणां च परंतप। कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥ (१८/४१) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इनके कर्मों को मैंने विभक्त किया है, 'स्वभाव प्रभवैर्गुणैः'- स्वभाव से उत्पन्न हुए गुणों के अनुसार इन्हें प्रवृत्त किया है। तामसी गुणों का बाहुल्य है, आलस्य, निद्रा, प्रमाद है; दस घंटे भजन में बैठते हैं, जिस मन को बैठना चाहिए भाग रहा है, दस मिनट भी भजन नहीं करता- ऐसी अवस्था में वह अल्पज्ञ है, शूद्र है। उसके लिये परिचर्या ही कर्म है। सेवा, शरण-सान्निध्य से तामसी गुण क्षीण हो जायेंगे, विधि जागृत हो गई, राजसी गुणों का संचार हो गया तो क्रमशः उन्नत सोपानों पर वही अल्पज्ञ शूद्र अग्रसर हो जाता है।

स्वभाव परिवर्तनशील है। एक बार जघन्य अपराधी रत्नाकर सप्तर्षियों से टकरा गया। उसने ललकारा, 'खबरदार! जो कुछ है, रख दो।' महात्माओं ने कहा, 'वत्स! जंगल में अकेले क्या कर रहे हो?' रत्नाकर बोला, 'चालाकी न दिखाओ। जो कुछ तुम्हारे पास है मुझे दे दो।' ऋषियों ने पूछा- 'इतना जघन्य अपराध किसलिये कर रहे हो?' उसने कहा- 'परिवार के उदर-पोषण के लिए।' ऋषियों ने कहा- 'जो तुम कर रहे हो, इससे तुम्हें रौरव नरक की यातना मिल सकती है। क्या तुम्हारा परिवार भी तुम्हारे इस कृत्य में हिस्सा बँटायेगा?' रत्नाकर बोला- 'अवश्य भागीदार होंगे।' ऋषियों ने कहा- 'उनसे कभी पूछा भी है?'

उन ऋषियों को बाँधकर रत्नाकर अपने परिवार से पूछने गया तो सबने टका का उत्तर दिया कि 'अपनी करनी पार उतरनी।' हमें क्या पता तुम क्या करते हो? हमने कब कहा कि डाका डालो? उदास खिन्न दस्यु ऋषियों की शरण में आया और अपने उद्धार का उपाय पूछा।

ऋषियों ने उसे सान्त्वना दी- 'वत्स! तुम अपराधी नहीं हो। तुमने जो कुछ किया है अनजान में किया है। अज्ञान में तो सर्प पर भी पाँव पड़ जाता है, लोग कभी शेर से टकरा जाते हैं, दुर्घटनाएँ हो जाती हैं। तुम अनभिज्ञ हो। कोई बात नहीं, बोलो- राम!'

वह जन्म का पातकी, उसके मुख से यह पवित्र नाम निकलता ही न था, बोला- 'म'। ऋषियों ने कहा- और प्रयत्न करो, तो बोला- 'र'। मिलाकर पढ़ो, तो बोला- मरा! ऋषियों ने कहा- तुम 'मरा' ही पढ़ो। जब तक हम लौटकर न आये तब तक यही पढ़ते रहना। यहाँ से जल पी लेना, यहाँ से फल खा लेना, नाम पढ़ते रहना, किसी से बोलना नहीं और कुछ देखना नहीं। हठी तो था ही, आदेश के पालन में लग गया।

बारह वर्ष पश्चात् महापुरुष लौटे तो रत्नाकर की समाधि लग गयी थी। उसके चारों ओर दीमकों ने बाँवी बना लिया था, मिट्टी के ढेर खड़े हो गये थे। उनके बीच में होने से उसका नाम वाल्मीकि पड़ गया। ऋषियों ने उसे सचेत किया। उलटा नामु जपत जगु जाना। बालमीकि भये ब्रह्म समाना।। (मानस, २/१९३/४) जान आदिकवि नाम प्रतापू। भयउ सुद्ध करि उलटा जापू।। (मानस, १/१८/३) वाल्मीकि ब्रह्म के समानान्तर स्थिति पा गये। क्या बदल गया था? शरीर तो वही था। स्वभाव परिवर्तनशील है। तामसी गुणों का दबाव था तो वही व्यक्ति डाकू, लुटेरा, हत्यारा, अनभिज्ञ जीव था। महापुरुषों की शरण, साधना और सान्निध्य से, साधना की टूटी-फूटी लड़ी-कड़ी में अल्पज्ञ स्तर मरा-मरा से आरंभ किया और ब्रह्म के समानान्तर स्थितिवाले हो गये।

भगवान् श्रीकृष्ण आश्वस्त करते हैं, अर्जुन! ऐसा कोई पाप नहीं जो मेरी शरण में आने से समूल नष्ट न हो जाय। आप एक ही जन्म में यह प्रगति कर सकते हैं। वाल्मीकि उसी शरीर से दस्यु थे, ब्रह्मर्षि हो गये।

वर्ण साधना के क्रमोन्नत सोपान हैं। समाज में प्रचलित जातियाँ तो कबीलों के नाम हैं। किसी के कई लड़के हैं, पुकारने के लिए अलग-अलग नाम तो रखना ही पड़ता है। जातियाँ कुल-गोत्र के सम्बोधन हैं, इनसे धर्म का कुछ भी लेना-देना नहीं है। जातियाँ बदलती रहेंगी। कोई अपना गाँव छोड़कर कहीं अन्यत्र गया तो गाँव के नाम पर, प्रदेश के नाम पर भी जातियाँ बन जाती हैं। वंश में कोई वरिष्ठ पुरुष हो गया तो उसके नाम पर भी जातियाँ बनती हैं। इसी तरह व्यवसाय भी जाति की संज्ञा पा लेता है। यह तो हमारे पूर्वजों के कीर्तिमान हैं, गौरव-गाथाएँ हैं। धर्म से इनका सम्बन्ध नहीं है।

गीता के अनुसार मनुष्य या तो आस्तिक या नास्तिक, देव-प्रधान या प्रकृति-प्रधान, देवता या असुर इन दो जातियों में विभक्त है और वर्ण साधना के चार क्रमोन्नत सोपान हैं।

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं- या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। (२/६९) अर्जुन! संसार एक रात्रितुल्य है। इसमें हर प्राणी अचेत है लेकिन संयमी पुरुष जाग जाता है। जहाँ गीतोक्त साधन समझा, जहाँ पहला चरण रखा, जाग गया। जानिय तबहिं जीव जग जागा। जब सब विषय विलास विरागा।। (मानस, २/९२/२) जागृति के पश्चात् साधना एक, एक ही कर्म के क्रमोन्नत सोपानों में प्रवेश मिलता जाता है।

अल्पज्ञ शूद्र अवस्था में पहले समर्पण से आरंभ है। विधि जागृत हुई तो प्रकृति के द्वन्द्व से शनैः-शनैः आत्मिक सम्पत्ति अर्जित की जाती है जो निज सम्पत्ति है, निश्चित कल्याण करनेवाली है, साथ ही गो-संयम, इन्द्रिय-संयम यही वैश्य श्रेणी है। भगवान के हाथों का यंत्र बनकर चलने की क्षमता आने पर संघर्ष झेलने की क्षमता आ जाती है यही क्षत्रिय वर्ण है और जब विकार समाप्त हो गये, ब्रह्म में विलय की योग्यता आ गयी तो वही ब्राह्मण वर्ण है। प्रभु का दर्शन, स्पर्श और प्रवेश मिल गया तो श्रेणियाँ समाप्त। अब कर्म करने से न लाभ है और न छोड़ देने से कोई क्षति। न प्राप्त होने योग्य कोई वस्तु शेष रह जाती है, न ही कोई भगवान अलग है जिसे वह ढूँढ़े।

यही गीता-शास्त्रोक्त वर्ण हैं, साधन-विधि है। शास्त्र-विधि छोड़कर भजने से भजन ही क्या है? वह अनभिज्ञ अवस्था है, अन्य कुछ भी नहीं।



प्रश्न २२ :- शास्त्र कौन है?

उत्तर :- गीता मानव मात्र का धर्मशास्त्र है। आदिशास्त्र गीता ही है, वेद इसी के विस्तार हैं। विभिन्न देश-काल में करोड़ों महापुरुषों की विविध भाषाओं में करोड़ों वाणियाँ गीता के ही सन्देश का प्रसारण हैं। उन्हीं परमात्मा का प्रसारण गीता है। भगवान हर भाषा में बोल सकते हैं। कहीं से आप साधना करें, किसी भाषा के क्यों न हों, प्रभु उसी भाषा में बात करने लगेंगे; किन्तु यह जागृति किसी तत्त्वदर्शी महापुरुष के द्वारा ही होती है। ●

प्रश्न २३ :- 'जाति, वर्ण, मजहब, सम्प्रदाय, भेदभाव' इन सबसे मुक्त मानव का धर्मशास्त्र कौन है?

उत्तर :- धर्मशास्त्र तो एक ही है श्रीमद्भगवद्गीता। यह परमात्मा के श्रीमुख की वाणी है और यही आदिशास्त्र है।



प्रश्न २४ :- पूरा विश्व भारत की आध्यात्मिक विद्या का ऋणी है। भारत विश्वगुरु है तो उसका शास्त्र क्या है?

उत्तर :- श्रीमद्भगवद्गीता मनुष्य मात्र का धर्मशास्त्र है। सौभाग्य से इसका प्रादुर्भाव भारत में हुआ अतः भारतीयों का भी शास्त्र होने का गौरव गीता को है। 'एकं शास्त्रं देवकीपुत्र गीतं'- शास्त्र एक ही है जिसका गायन देवकीपुत्र भगवान श्रीकृष्ण ने किया। उस गायन में क्या सत्य बताया? एक परमात्मा। एक ही मंत्र है, किस नाम से उन्हें पुकारें 'ओम्' और वही तत्त्व है, वही परमसत्य है। दुर्लभ मानव-तन मिला है तो आप सबका एक ही कर्तव्य है, 'कर्माप्येको तस्य देवस्य सेवा'- उन परमदेव परमात्मा की सेवा करें, उनका सेवन करें। चलते-फिरते, उठते-बैठते हर समय उनका नाम याद आये, प्रभु का स्मरण बना रहे। प्रातः-सायं आधा घण्टा समय इस स्मरण के लिए अवश्य दें। पाँच मिनट से ही आरंभ करें किन्तु समय अवश्य दें। कोई दुर्घटना भी घट जाय तब भी समय दें, जिससे नियम खण्डित न हो। वह प्रभु जानते हैं कि भक्त मुझे पुकार रहा है। वह यह भी जानते हैं कि इसको क्या चाहिए, वे देते हैं। जो माँगेंगे, मिलेगा।

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं- आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी चार प्रकार के भक्त मुझे भजते हैं। चारों उदार हैं; क्योंकि जिसे भजना चाहिए उसे भजते हैं और जिससे माँगना चाहिए उससे माँगते हैं। वस्तु तो मिलती ही है और ईश्वर से जुड़े रहने के कारण इस पथ में आरम्भ का नाश भी नहीं है। वस्तु का उपभोग करते हुए क्रमशः आगे बढ़ते जायेंगे और एक दिन प्रभु का दर्शन, स्पर्श और उनमें स्थिति प्राप्त कर लेंगे। इसलिए सम्पूर्ण शास्त्र गीता ही है। आप अध्ययन अवश्य करें।

कभी-कभी साधक माया की प्रबलता और लोक-व्यवहार के लिए साधना में शिथिल हो जाते हैं; किन्तु यह सब अवरोध भजन की जागृति के पूर्व की अवस्था तक ही हैं। एक पण्डितजी कथावाचक थे। कथा में वे सत्य ही सत्य बताया करते थे। एक दिन कलियुग पुरुष-वेश में उनके पास आकर कहने लगा, 'पण्डितजी! हमारा राज्य है, कुछ हमारे हिस्से का भी बताया करें।' पण्डितजी ने पूछा- 'आप कौन हैं?' उसने कहा- 'मैं कलियुग हूँ।'

पण्डितजी बिगड़ खड़े हुए- नालायक कहीं का! सुबह-सुबह आ गया। तुम्हारी हिम्मत कैसे पड़ी? इस मुख से झूठ हम बोल ही नहीं सकते, यह तो प्रभु का ही स्मरण और उन्हीं का गुणानुवाद करेगा। कलि ने कहा, "महाराज! हमारा राज्य है तो हम कोई उपाय करेंगे।" पण्डितजी ने डाटकर उसे भगा दिया।

पण्डितजी के प्रवचन में अपार भीड़ रहती थी। दूसरे दिन साफ-सुथरे कपड़े पहनकर एक व्यक्ति प्रवचन में आया। वह कभी मंच के पास जाने का प्रयास करता, कभी पीछे लौट आता। कभी सिगरेट मुख में रख लेता। श्रोताओं ने उसे मना किया- 'आप कैसे अशिष्ट हैं। हजारों लोग शान्ति से गीता की कथा सुन रहे हैं, अमृत बरस रहा है, क्या आप शान्ति से कथा नहीं सुन सकते?' उसने कहा, 'आप ठीक कहते हैं। मैं कुछ काम से आया था। थोड़ा शीघ्रता में हूँ।' लोगों ने पूछा, 'काम क्या है?' उसने कहा, 'काम तो पंडितजी से ही है। ऐसा है कि जुए का कुछ कर्ज पंडितजी पर शेष है। उन्होंने कहा था कि कथा में रुपये मिलेंगे तभी दे पाऊँगा। और कोई खास बात नहीं है। पंडितजी भले आदमी हैं, कोई बात नहीं, पहुँचा ही देंगे।' वह चला गया। प्रचार हो गया कि पंडितजी जुआ खेलते हैं।

पाँच-सात दिन में ही श्रोताओं की भीड़ आधी हो गयी। पुनः एक दूसरा व्यक्ति आया। सभा में आगे बैठकर कभी उठता कभी बैठ जाता, कभी इधर-उधर देखने लगता। लोग चौकन्ने हो गये। उससे पूछा- 'क्या बात है?' उसने कहा, 'कोई खास बात नहीं है। शराब वाले सेठ ने मुझे भेजा है कि पैसा हो गया हो तो पण्डितजी दे दें, पन्द्रह दिन से उधार ही चल रहा है।' लोगों ने सोचा कि पण्डित शराब भी पीता है। चौथाई भीड़ खिसक गयी।

कुछ दिनों पश्चात् एक फटीचर-जैसा व्यक्ति कथा के दौरान बोला, 'क्या गुरुजी! कथा ही कहते रहेंगे या कुछ इधर भी ध्यान देंगे?' पण्डितजी ने पूछा- 'कौन हो भाई?' उसने कहा, 'जो नगर-वधू, बाईजी हैं उन्हीं का सेवक हूँ। नाच-गाना देखने का कई दिनों का आप पर बकाया है, मिल जाता तो बड़ी कृपा होती। बड़ी देर हो रही है।' ऐसा सुनना था कि अधिकांश श्रोता भी चले गये।

दो-चार वयोवृद्ध ही अब उनकी कथा के श्रोता रह गये थे। वे पण्डितजी को सान्त्वना देते थे। एक दिन कलियुग पुनः एकान्त में पण्डितजी से मिला। उसने पूछा- 'क्या हाल-चाल है?' पण्डितजी ने कहा, 'पता नहीं कैसे-कैसे लांछन लग रहे हैं, अब तो कथा में लोग आते ही नहीं।' उसने कहा, 'आपकी सभा तो मैं पुनः एकत्र कर दूँगा; किन्तु आप हमारा भी कुछ हिस्सा कथा में बताया करें।' उन्होंने स्वीकार कर लिया।

दूसरे दिन पण्डितजी की कथा के मध्य एक पुलिस अधिकारी तीन अपराधियों को गिरफ्तार करके लाया और बोला- "पंडितजी! इन नालायकों ने दिल्ली में कथा बिगाड़ी, कोलकाता में अफवाह फैलायी, हरिद्वार कुम्भ मेले में इन्होंने ही दंगा कराया और आपकी कथा में भी व्यवधान डाल रहे हैं। ये धर्मविरोधी हैं।" तुरन्त भीड़ एकत्र हो गयी। लोगों ने कहा, 'साहब इन्हें छोड़ना नहीं।' उसने कहा, 'आप लोग चिन्ता न करें, मैं इन्हें ले जाता हूँ।'

चार रूपों में वह कलियुग ही था, चला गया। पण्डितजी ने भी कथा के अंत में मध्यम मार्ग अपनाने का उपदेश दिया कि सत्य तो सदैव सत्य होता ही है लेकिन 'जैसी देखो दुनिया की रीति। वैसी उठाओ अपनी भीति।' थोड़ा-बहुत समझौता कर लेना परिस्थिति है, कोई पाप नहीं है।

"धरा न काहू धीर, सबके मन मनसिज हरे।"- जब माया की चपेट लगती है, साधक खो जाता है; किन्तु जब भगवान वरदहस्त रख देते हैं फिर आपको झूठ बोलने की कोई आवश्यकता नहीं है-

होइ न बाँको बाल भगत को, जो कोई कोटि उपाय करे।

गीता के अनुसार साधना जहाँ पकड़ में आयी फिर यह कलियुग धोखा नहीं दे पायेगा। 'हरि भक्तन के पास न आवें, भूत प्रेत पाखंड।।' ये प्रपंच पास फटकते ही नहीं। हमारी साधना जब तक अविधिपूर्वक है तभी तक ये प्रपंच चला करते हैं।



प्रश्न २५ :- धर्म के नाम पर हो रहे जेहाद, आतंकवाद, जातिवाद, भ्रष्टाचार, सामाजिक भेदभाव व अलगाववाद रोकने के लिए आपका क्या संदेश है?

उत्तर :- इन सभी समस्याओं का समाधान गीता है इसलिए हमारा सन्देश भी गीता ही है। एक धर्मशास्त्र और साधना की एक प्रशस्त विधि पाते ही सभी एकता के स्नेह में बँध जायेंगे, फिर तो धर्म का साइन बोर्ड लगाकर कोई कभी नहीं लड़ेगा।

समाज में भाई-भाई के झगड़े होते आये हैं। एक पौराणिक कथानक है। दो असुर भाई थे। दोनों में अगाध प्रेम था। दोनों ने अत्यन्त उग्र तपस्या कर विधाता को प्रसन्न कर लिया। ब्रह्मा ने कहा, 'वर माँगो।' उन्होंने कहा, 'हमें, अमर बना दें।' ब्रह्मा ने कहा, 'अमर तो मैं भी नहीं हूँ, इसके अतिरिक्त कुछ भी माँग लो।' दोनों भाइयों ने परामर्श किया कि दादाजी अमरत्व देना नहीं चाहते। कुछ ऐसा माँग लें कि प्रकारान्तर से अमर ही हो जायँ। उन्होंने कहा, 'हम दोनों भाई जब एक दूसरे को मारें तभी मरें।' ब्रह्मा ने 'तथास्तु' कहा।

दोनों भाइयों ने स्वर्ग पर आक्रमण किया। इन्द्रासन पर दोनों ही बैठ गये। सर्वत्र उनकी विजय पताका फहराने लगी। जब मृत्यु का समय आया, एक सुन्दरी दोनों के मध्य आ गयी। दोनों आकर्षित हो गये। एक ने कहा, 'इसने पहले मुझे देखा, इसलिए यह मेरी अंकशायिनी बनेगी। यह तुम्हारी भाभी है।' दूसरे ने कहा, 'नहीं, इसने मेरा वरण किया है, तुम्हारी अनुज वधू है। इसकी ओर कुदृष्टि से देखना भी पाप है।' वे परस्पर इतना क्रोधित हो गये कि वरदान की शर्त भूल गये। आपस में लड़कर मर गये।

झगड़े सृष्टि में होते आये हैं। यह कलह धन-सम्पत्ति के लिए होते हैं, जीवनयापन के लिए झगड़े होते हैं। गौरव-गाथा को लेकर कहीं विवाद है, कहीं कीर्ति के लिए, कहीं क्षुद्र यश के लिए। कहीं जमीन के लिए, सुन्दर स्त्री के लिए झगड़े हैं। ये तो चलेंगे किन्तु धर्म का साइनबोर्ड लगाकर तभी तक लड़ रहे हैं जब तक अनभिज्ञ हैं। ईश्वर-पथ में कहीं भी अशान्ति या आतंक का कोई स्थान नहीं है। यह धर्मशास्त्र न समझने का दुष्परिणाम है। यह विभीषिका शान्त हो जायेगी, यदि एक धर्मशास्त्र गीता जन-जन तक विधिवत्

सम्प्रेषित कर दी जाय। अपने बुद्धि के बल पर गीता में कुछ जोड़े-घटाये नहीं, न एक शब्द बढ़ायें न घटायें, ज्यों का त्यों दे दें। गीता में मात्र सात सौ श्लोक सुबोध संस्कृत में हैं उनका मनन करें और उसकी व्याख्या के रूप में धर्म क्या है? कर्म क्या है? वर्ण क्या है? यज्ञ क्या है? इसे आचरण में कैसे ढालें, पालन कैसे करें? इन प्रकरणों को विधिवत् समझने के लिए आपको गीता की व्याख्या 'यथार्थ गीता' की चार आवृत्ति करनी पड़ेगी। तत्पश्चात् जिसकी जहाँ अभिरुचि हो, वहाँ देखे। फिर तो आप गीता के और गीता आपकी हो जायेगी। मानव मात्र के कल्याण के लिए गीता-अनुशीलन से बढ़कर अन्य कोई मार्ग ही नहीं है।



प्रश्न २६ :- भारतीय संस्कृति संसद, कोलकाता में जनवरी, २००५ में आयोजित स्वर्ण जयन्ती समारोह के अवसर पर संसद ने एक पत्रक के माध्यम से धर्म का स्वरूप, धर्म और संस्कृति, धर्म और राष्ट्र तथा धर्म और विज्ञान विषय पर महाराजजी ने जो सुझाव दिया, उसे विशेष रूप से सभी पाठकों के लिए यथावत प्रस्तुत किया जा रहा है।

उत्तर :- ● धर्म का स्वरूप : धर्म-संगोष्ठी के लिए निर्धारित प्रथम सत्र के विवेच्य विषय 'धर्म का स्वरूप' विषय में पत्रक में लिखा गया है— "भारत राष्ट्र की आत्मा धर्म है। यह धर्म सनातन धर्म कहा जाता है। सनातन का अर्थ है, जो शाश्वत है अथवा जो अनादि और अनन्त है। सनातन धर्म का सार यह है कि सारे विश्व में एक ही शाश्वत सत्य है जिसे वेदान्त या उपनिषदों ने ब्रह्म कहा है। यही ब्रह्म परमसत्य है। यह विश्व ब्रह्माण्ड उसी ब्रह्म से निकला है और उसी में विलीन हो जाता है। यह क्रम सृष्टि और प्रलय कहा जाता है। मनुष्य-योनि इस ब्रह्म को अनुभव करने का सर्वश्रेष्ठ माध्यम है।"

धर्म की जो उपर्युक्त परिभाषा दी गई है, धर्म की विशुद्ध परिभाषा कही जा सकती है; किन्तु वर्तमान में धर्म की यह परिभाषा कितना लोग जानते हैं? कदाचित् भारत के एक प्रतिशत लोग भी इस परिभाषा को नहीं जानते। अधिकांश लोग सनातन का एक भिन्न अर्थ लेते हैं कि परम्परागत सदाचार-संहिता हमारे विचारशील ऋषियों-मुनियों की बनायी हुई कही जाती है और

आज के अधकचरी बुद्धिवालों को उन परम्पराओं, रूढ़ियों, विवाह या खान-पान के नियमों में परिवर्तन करने का दुस्साहस नहीं करना चाहिए। परम्परा से चले आ रहे ये नियम ही सनातन हैं।

वर्तमान में भारत अस्पृश्यता, भेदभाव तथा एक दूसरे के प्रति भयंकर घृणा से आक्रान्त है। अधिकांश लोग भ्रातृत्व समानता और सद्व्यवहार के लिए आहें भर रहे हैं। अभी कुछ ही दिन पहले जोधपुर में हरिजनों को मन्दिर में नहीं जाने दिया गया। भगवान क्या किसी जाति, वंश या कबीले की बपौती है?

रामायण का परिशीलन करने से विदित होता है कि भगवान राम ने सवर्णों का उद्धार नहीं किया। उन्होंने गले लगाया हरिजनों को; हरिजनों से भी जो हीन माने जाते हैं उन करोड़ों-अरबों आदिवासियों, जन-जातियों का ही उन्होंने उद्धार किया।

गोस्वामी तुलसीदासजी की रामचरित मानस में है कि भगवान के राज्याभिषेक के अनन्तर कुल-पुरोहित महर्षि वशिष्ठ भगवान राम के पास पहुँचे और निवेदन किया कि पौरोहित्य कर्म अत्यन्त निकृष्ट है- उपरोहित्य कर्म अति मन्दा। वेद पुरान सुमृति कर निन्दा।। जब न लेऊँ मैं तब विधि मोही। कहा लाभ आगे सुत तोही।। (७/४७/६) “भगवन्! पुरोहिती का कर्म बड़ा निकृष्ट है। वेद, पुराण, स्मृति सभी इसकी निन्दा करते हैं। मैं यह पद ग्रहण नहीं कर रहा था; किन्तु विधाता ने समझाया कि पुत्र! यह जिम्मेदारी ले लो, तुम्हें इससे लाभ है। इसी कुल में राम का जन्म होनेवाला है, उनसे तुम्हारा उद्धार हो जायेगा। अतः अब आप मुझे अपने चरणों की अविरल भक्ति प्रदान करें।” अब जिन गुरु की गोद में राम पले, बढ़े, पढ़ना-लिखना सीखा, धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाना सीखा, उनसे कैसे तथास्तु कहते? भगवान मौन ही रहे। वशिष्ठ ने सादर चरणों की वन्दना की और चले गये। ‘मौन सम्मति लक्षणम्’ माना जाय तब भी केवल एक सवर्ण का उद्धार भगवान् राम द्वारा पाया जाता है, वह भी तब जब वे चरणों में गिरे। आज कुछ लोग कहते हैं कि अवर्ण मन्दिर में न जायँ।

मन्दिर में बैठकर कब किस महात्मा ने सिद्धि पायी है? भगवान राम जब अयोध्या में थे, उन्हें एक सन्त विश्वामित्र मिले। वह भी जंगल से आये थे और

राम को जंगल में ही ले गये, उनके यज्ञ की रक्षा हुई। वनवासकाल में भगवान राम का पहला पड़ाव प्रयाग में पड़ा (श्रृंगवेरपुर में)। उस समय वह स्थान घनघोर जंगल था। उन्हें भरद्वाज ऋषि, महर्षि अत्रि, वाल्मीकि, सरभंग, सुतीक्ष्ण, अगस्त्य, शबरी आदि मुनियों के आश्रम मिले- सब के सब जंगल में मिले। ऋषियों के यहाँ कथा-वार्त्ता थी, चिन्तन था; मन्दिर तो किसी के पास नहीं था। मन्दिर में बैठकर कब, किसने मुक्ति पायी? कहते हैं, मन्दिर में दर्शन करने मत जाओ।

मन्दिर अनावश्यक नहीं हैं। मंदिरों में हमने अपने पूर्वजों, उन महान् विभूतियों की स्मृतियाँ सँजोयी हैं, जो हमारे आदर्श रहे हैं। हमारे आदर्श जीवित हैं तो हम भी जीवित हैं, मन्दिर इसलिए आवश्यक हैं। यहाँ तक तो ठीक है; किन्तु भगवान सबके हैं न कि केवल सवर्णों के।

भगवान ने जो लीलायें कीं, जिनके बीच रहे अधिकांशतः 'शिड्यूल्ड कास्ट-शिड्यूल्ड ट्राइब्स' (अनुसूचित जाति-अनुसूचित जनजाति) के थे। वे अधम से अधम प्रजाति के थे। "अधम ते अधम अधम अति नारी।" शबरी थी। (मानस, ३/३४/३) बानर अधम थे, निशाचर अधम थे। "गीध अधम खग आमिष भोगी।" (मानस, ३/३२/२) कोल-भील अधम थे। इन्हीं सबका उद्धार करने में राम ने अपना जीवन व्यतीत कर दिया। राम ने इन सबको गले लगाया। यह हमारा गौरवशाली इतिहास है। उन महान् विभूति का मंदिर तो बनना ही चाहिए। जीते-जी भगवान ने उनके फल-फूल खाये लेकिन जब कालान्तर में उनका स्मारक सँजोया गया तो पुरोहित कहते हैं- वे मंदिर में न जायँ। जिनका उद्धार भगवान ने किया वे जातियाँ न जायँ। क्या कह रहे हैं ये लोग? एक भयंकर भ्रान्ति समाज में व्याप्त है।

आज आप धर्म की विशुद्ध परिभाषा देना चाहते हैं; किन्तु अभी तक भारत में जो धर्म प्रचलित है एक भयंकर खारे समुद्र की तरह लहरें मार रहा है। सबके हृदय में आज भी छुआछूत है। मंदिर-प्रवेश को लेकर निषेध है, तालाब और कूप के जल पर निषेध है। हीन भावना की चक्की में पूरा भारत पिस रहा है, हर गाँव सुलग रहा है। घोड़ी (पलवल), हरियाणा में अपना एक आश्रम है। वहाँ पेयजल की एक टंकी बनी। उसमें जल पीने की टोंटियाँ लगी थीं। कुछ लोगों ने सूचना दी, "महाराज! गजब हो गया। डुमार ने टोंटी छू दिया।" हमने

कहा, “तो क्या हुआ? पवित्र करनेवाला मंत्र पढ़ लो।” यह ज्वार कहाँ से आया? किसने पढ़ाया यह धर्म? हर हृदय में, करोड़ों की संख्या में जो हिन्दू समुदाय है उसके हृदय में ये लहरें उठा करती हैं। इन लहरों का स्रोत क्या है, पहले उसे बन्द करें, इसके पश्चात् धर्म की विशुद्ध परिभाषा दें, तभी आप सफल हो सकेंगे।

गीता-प्रसारण से पूर्व अर्जुन भी ऐसी ही एक भ्रान्ति में आकण्ठ डूबा था और उस भ्रान्ति को ही शुद्ध सनातन धर्म मान रहा था। उसने कहा, “गोविन्द! कुलधर्म सनातन है, जातिधर्म शाश्वत है। ऐसा युद्ध करने से सनातन धर्म लुप्त हो जायेगा। कुल की स्त्रियाँ दूषित होंगी, वर्णसंकर पैदा होंगे। वर्णसंकर कुल और कुलघातियों को नरक में ले जाने के लिए ही होता है। ऐसे युद्ध से पितर लोग गिर जायेंगे, पिण्डोदक क्रिया लुप्त हो जायेगी। गोविन्द! हमलोग समझदार होकर भी महान् पाप करने को उद्यत हुए हैं। क्यों न हमलोग इससे बचने का उपाय करें।” उसने एक आक्षेप भगवान् श्रीकृष्ण पर भी लगाया कि हम-आप समझदार होकर भी ऐसा कर रहे हैं। धनुष फेंककर, अश्रु बहाते हुए रथ के पिछले भाग में वह बैठ गया। बोला, “केशव! ये शस्त्रधारी कौरव मुझे मार ही क्यों न डालें, मैं कदापि युद्ध नहीं करूँगा; क्योंकि इससे सनातन धर्म का लोप हो जायेगा।” एक धार्मिक भ्रान्ति ने अर्जुन को मौत के मुँह में धकेल दिया था। भगवान् श्रीकृष्ण ने हँसते हुए से कहा, “**कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।।**” (गीता, २/२) तुझे इस विषम स्थल में अज्ञान कहाँ से उत्पन्न हो गया? उसने तो सनातन धर्म का नाम लिया था; किन्तु उसे भगवान् ने संज्ञा दी, “अज्ञान कैसा?” उसकी मान्यताओं के सन्दर्भ में भगवान् ने कहा कि न यह कीर्ति बढ़ानेवाला है, न कल्याण करनेवाला है और न पूर्व के महापुरुषों ने भूलकर भी इसका आचरण किया। ‘**अनार्यजुष्टम्**’- यह अनार्यों का आचरण तूने कहाँ से सीख लिया?

जिसमें कीर्ति नहीं, कल्याण नहीं, श्रेष्ठ महापुरुषों ने भूलकर भी जिसका आचरण नहीं किया, सिद्ध है कि वह अज्ञान है। अर्जुन हतप्रभ रह गया कि अब तक जिसे वह सनातन धर्म मान बैठा था, वह अज्ञान निकला। तब उसने समर्पण किया और कहा, “गोविन्द! यह सब अज्ञान है तब आप ही बतायें कि

सत्य क्या है? 'धर्मसंमूढचेता'- धर्म के मार्ग में मैं विशेष रूप से मूढचित्त हूँ, अब आप ही बताइये।”

पहले भगवान ने उसकी भ्रान्तियों का निवारण किया। उसकी कमियाँ बतायीं, निवारण किया तभी उन्होंने सत्य बताया। इसलिए धर्म का विशुद्ध रूप जन-जन तक प्रसारित करने से पूर्व धर्म के नाम पर जो कुरीतियाँ फैली हुई हैं, पहले उनका निवारण करें। पात्र जब रिक्त हो जाय, हृदय माँग करे तभी धर्म का निर्देश करें। धर्म बताने से भी पहले धर्मशास्त्र दें जिसे वे स्वयं पढ़ सकें, अपने घर में रहकर स्वयं समझ जायँ, आपको पढ़ाना न पड़े।

प्रश्न है कि धर्म के प्रचार-प्रसार के व्यावहारिक उपाय क्या हो सकते हैं? हमारा सुझाव है कि धर्म के प्रचार से पूर्व यह अन्वेषण करें कि धर्म के नाम पर प्रचलित भ्रान्तियाँ कहाँ से आयीं? कितने समय से आयीं और क्यों आयीं? विश्लेषण से आप पायेंगे कि इनकी जड़ केवल स्मृतियाँ हैं। स्मृतियों की संख्या लगभग १६४ है। इनका लेखन प्रथम ईस्वी शताब्दी के आस-पास आरम्भ होता है। सातवीं शताब्दी तक ये भली प्रकार प्रकाश में आयीं, प्रशासन में इन्हें स्थान मिला। वैसे इनमें से कुछ सोलहवीं शताब्दी तक लिखी जाती रहीं। भेद-भाव और छुआछूत के लिये काफी हद तक ये स्मृति-लेखक जिम्मेदार हैं।

इन स्मृतिकारों ने ही प्रतिबंध लगाया है कि गीता घर में न रखें। ऐसा इसलिए कि गीता के होते हुए कोई मनुष्य-मनुष्य में फूट डाल ही नहीं सकता। गीता में भगवान कहते हैं कि- “मनुष्य मेरा विशुद्ध अंश है।” उतना ही पवित्र जितना भगवान। कैसे डालेंगे फूट?

इस स्मृतियों का सृष्टि-प्रकरण देखें। इनमें लिखा है कि सरस्वती और दृषद्वंती नदियों का मध्यवर्ती भाग देवताओं का बसाया ब्रह्मावर्त देश है। यह दोनों पांचाल, शूरसेन अर्थात् मथुरा-ये ब्रह्मर्षि देश हैं जो ब्रह्मावर्त से कुछ कम महत्व के हैं। सरस्वती नदी से पूर्व, प्रयाग से पश्चिम हिमालय और विन्ध्य पर्वत के मध्य के भू-भाग को मध्यदेश कहते हैं। पूर्वी समुद्र से पश्चिमी समुद्रपर्यन्त हिमालय और विन्ध्य के मध्यवर्ती क्षेत्र को पण्डितों ने आर्यावर्त कहा है अर्थात् काशी के समीप मिर्जापुर में जो विन्ध्याचल है वहाँ से लेकर

हिमालय की घाटी के बीच का भू-भाग आर्यावर्त है, जहाँ काले हिरण कुलाँचें भरते हैं। यह यज्ञ-योग्य प्रदेश है। इससे भिन्न बंगाल, मद्रास, कलिंग इत्यादि म्लेच्छ देश, अधम-अभागों का देश है। द्विजों को प्रयत्नपूर्वक आर्यावर्त में ही रहना चाहिए। जीवन पर संकट आने पर शूद्र किसी भी देश में रह सकते हैं। इस प्रकार सृष्टि उत्पत्ति प्रकरण संक्षेप में पूर्ण हुआ।

स्मृति में वर्णित इन विधाता को यह भी ज्ञात नहीं है कि हिमालय के आगे चीन है, समुद्र के पार अफ्रीका इत्यादि महाद्वीप हैं। मृग के अतिरिक्त कंगारू इत्यादि जीव भी सृष्टि में हैं। मात्र उपर्युक्त वर्णन कर उन्होंने घोषित कर दिया कि सृष्टि-प्रकरण पूर्ण हुआ। जहाँ तक यह लोग पैदल यात्रा उस युग में कर सकते थे, वहाँ तक का वर्णन इन स्मृतियों में पाया जाता है। क्या इतनी ही सृष्टि है जितना कि इन स्मृतियों में वर्णित है?

सृष्टि का ऐसा ही विवरण कविकुल गुरु कालिदास के महाकाव्य रघुवंश में भी देखने को मिलता है। महाराज रघु त्रिलोक विजय अभियान में निकले तो आसाम की ओर गये। वहाँ विजय प्राप्त की। वहाँ के पेड़-पौधों का वर्णन मिलता है। वहाँ से वे बंगाल-उड़ीसा होते हुए मद्रास आ गये, जहाँ काली मिर्च और काजू के वृक्षों का उल्लेख है। तत्पश्चात् गुजरात, कच्छ, राजस्थान का मरुस्थल, सिंधु नदी पार करते वे कश्मीर और बद्रीनाथ के उत्तुंग पर्वत शिखरों पर चढ़ गये। वहाँ की जनता ने देखा कि शाल वृक्षों के छिलके बहुत ऊँचाई पर रघु की हाथियों की रगड़ से छिल गये थे। वे हाथी ऐरावत नस्ल के जो थे।

तत्पश्चात् महान् प्रतापी महाराज रघु ने एक बाण पाताल में मारा तो वहाँ का राजा बलि रक्षा और शरण की याचना करने लगा। एक बाण उन्होंने ऊपर की ओर मारा तो इन्द्र ने हाथ जोड़ लिया। इस प्रकार त्रिलोक विजय कर उन्होंने खड्ग रख दिया। छः महीने पश्चात् त्रिलोक विजय अभियान में कैदी राजाओं को जब मुक्त किया गया तो इतने राजाओं ने रघु के चरणों में प्रणाम किया कि उनके मस्तक के चन्दन के घर्षण से रघु के पैरों की अँगुलियाँ गोरी हो गयीं (प्रतीत होता है रघु का रंग श्याम था)। इस प्रकार त्रिलोक विजय पूर्ण हुआ। रघुवंश महाकाव्य और मनुस्मृति का सृष्टि प्रकरण इतना ही है।

सभी स्मृतियों में मनु के नाम से प्रचारित 'मनुस्मृति' सर्वाधिक मान्यता प्राप्त है तथा सभी स्मृतियों में इसे प्राचीन माना जाता है। इस स्मृति का प्रणयन किसने किया, यह कहना कठिन है; किन्तु इतना तो निर्विवाद है कि मानव के आदि पूर्वज राजर्षि मनु ने इसका प्रणयन नहीं किया है क्योंकि इस स्मृति में वेद, आरण्यक, वेदांगों, अत्रि-गौतम-भृगु-वैखानस-वशिष्ठ इत्यादि स्मृतिकारों का संकेत है। 'केचित्', 'अपरे', 'अन्ये' कहकर अन्य लेखकों के मतों का संदर्भ है तथा 'वेद बाह्याः स्मृतयः' कहकर सम्भवतः भारतीय नास्तिक दर्शनों की ओर भी संकेत किया गया है। इस स्मृति में यवन, कम्बोज, शक, पहलव तथा चीन आदि के नाम हैं जिनका उल्लेख सम्राट अशोक के शिलालेख में है। (आदि मनु के समय में सृष्टि में इतनी जातियाँ, मत-मतान्तर, इतनी स्मृतियाँ थीं क्या?) गीता-जैसे मानव धर्मशास्त्र के होते हुए भी इस स्मृति में है कि धर्मशास्त्र तो स्मृतियाँ हैं- 'श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।' (मनु., २/१०)

इस स्मृति के प्रणेता ने अपना नाम क्यों छिपा लिया, इस सम्बन्ध में क्या कहा जाय? किन्तु यह कहा जा सकता है कि ग्रन्थ को प्राचीन और प्रामाणिक बनाने के लिए ही उन्होंने सृष्टि के आदिपूर्वज राजर्षि मनु के नाम से इसे प्रचारित किया।

ज्योतिष के अनुसार भारत में जातक के नामकरण में राशि, नक्षत्र और उसके चरण के अनुसार नियत अक्षरों के उपयोग की परम्परा है। स्मृति के अनुसार जन्म के बारहवें दिन नामकरण के अवसर पर ब्राह्मण का नाम मंगलसूचक, क्षत्रिय का बलसूचक, वैश्य का धनसूचक और शूद्र का नाम घृणासूचक रखा जाय। उदाहरण के लिए आद्यक्षर 'क' आया तो ब्राह्मण बालक का नाम 'करुणाकरण', क्षत्रिय बालक का नाम 'कृतान्त सिंह', वैश्य बालक का नाम 'करोड़ीमल' और शूद्र बालक का नाम 'कतवारु' रखें। जिससे सृष्टि में ये बालक कहीं भी अपना नाम सुना दें तो सुननेवाला उसकी जाति समझ जाय और निश्चय कर ले कि इसके साथ कैसा व्यवहार करना है। स्मृतियों की मान्यता है कि ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण और पाँव से शूद्र उत्पन्न हुए

इसलिए ब्राह्मण पवित्र है, श्रेष्ठ है; किन्तु गीता का उद्घोष है कि विधाता और उससे उत्पन्न सृष्टि नश्वर है- “आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन। मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।। (८/१६) स्वयं सृष्टि के रचयिता विधाता, उनसे उत्पन्न यावन्मात्र जगत् पुनरावर्ती स्वभाववाला मरणधर्मा है और दुःखों की खान है। अब कोई ब्रह्मा के मुख से जन्मा हो चाहे पैर से, है तो मरणधर्मा, दुःखों की खान। इसमें श्रेष्ठता क्या है? यह हजार-दो हजार वर्षों से स्मृतियों द्वारा मानव-मानव के बीच डाली हुई दरार है। इसी से अधिकांश भारतीयों का हृदय दिन-रात उबलता रहता है। आप दस व्यक्तियों को सच समझाने का प्रयास करते हैं, जबकि करोड़ों भ्रान्तियों के करोड़ों अध्यापक प्रचार में लगे हैं कि छुआछूत बनाये रखो। भ्रान्तियों के ऐसे प्रचारक जन्म के अवसर पर, विवाह समारोहों में तथा अन्त्येष्टि में घर-घर पहुँचकर वही बता रहे हैं जो उन्हें पढ़ाया गया है। पहले उनके भ्रम का निवारण करें।

मनुस्मृति में है- ‘श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः। (मनु. २/१०), जबकि आदि शंकराचार्य ने गीता को ही स्मृति कहा है। आदिमनु को विरासत में सूर्य से मिलनेवाला शास्त्र गीता है। (गीता, ४/१) सूर्य ने अपने पुत्र मनु से कहा, दिया कुछ नहीं केवल कथन किया। पूर्वजों का मस्तिष्क इतना ग्रहणशील था कि जो कुछ कहा गया उन्होंने स्मृति में धारण कर लिया। प्राचीन भारत में श्रुतिधरों ने श्रुतज्ञान को सदा जीवित रखने के लिए स्मृति की परम्परा चलायी। उसी परम्परा में मनु ने इक्ष्वाकु से कहा और वही गीता-ज्ञान इक्ष्वाकु से राजर्षियों ने जाना। उस ज्ञान का लोप हो गया था जिसे भगवान श्रीकृष्ण पुनः प्रकाश में लाये।

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा, “अर्जुन! योग अविनाशी है। अतः गीता-ज्ञान कभी नष्ट तो नहीं होता; किन्तु मनुष्य उसे भूल अवश्य गया। उसी विस्मृत ज्ञान को मैं तेरे प्रति कहने जा रहा हूँ; क्योंकि तू मेरा भक्त है, प्रिय सखा है।” अंत में भगवान ने पूछा, “अर्जुन! क्या तूने मेरा कथन एकाग्रचित्त होकर श्रवण किया?” अर्जुन बोला, “गोविन्द! मेरा मोह नष्ट हुआ। मैं स्मृति को प्राप्त हुआ हूँ।” यही है मनुस्मृति गीता। गीता ही वास्तविक मनुस्मृति है, सृष्टि का आदि धर्मशास्त्र है।

इसके पश्चात् वृद्धावस्था में राजर्षि मनु ने एक प्रलय देखा। जब प्रलय का दृश्य शान्त हुआ, मनु ने सृष्टि को व्यवस्थित करना चाहा तब भगवान ने उन्हें दर्शन दिया, चार वेद दिये और कहा कि मनुष्य इसे सुने, इससे उनका हित होगा। महाराज मनु ने उसका नामकरण 'श्रुति' किया। इसके अतिरिक्त मनु के समक्ष कुछ उतरा नहीं तो इस गीता-ज्ञान से भिन्न मनु ने कह कहाँ से दिया? इसलिए उनके नाम से प्रचारित स्मृति उनके द्वारा कही हुई नहीं है।

विशुद्ध मनुस्मृति गीता है, जिसे योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने पुनः प्रकाशित किया। परमात्मा के श्रीमुख की वाणी गीता को सर्वसम्मत शास्त्र का सम्मान पहले से ही प्राप्त है। धर्मशास्त्र के रूप में यह विस्मृत हो चली है, इसे पुनः प्रकाश में लायें, घर-घर इसे पहुँचायें। अभी तक भारत के राष्ट्रीय ग्रन्थ का निर्धारण नहीं हो पाया है, अन्तर्राष्ट्रीय ग्रन्थ का भी स्थान रिक्त है। हम सबको मिल-जुलकर घोषित करना चाहिए कि भारत का मूलशास्त्र श्रीमद्भगवद्गीता है। आर्यों का, सनातनधर्मियों का, मानवमात्र का मूलशास्त्र यही है।

मनु, याज्ञवल्क्य और पाराशर के नाम से प्रचलित स्मृतियों में इन महापुरुषों के विचार नहीं हैं। ये स्मृतियाँ मध्यकालीन तथा अर्वाचीन छोटे-छोटे स्टेटों में, स्थानीय नरेशों के राज्यों में प्रचलित कानून संहिताएँ थीं। तत्कालीन सामाजिक व्यवस्थाओं के उपयोगी अवशेष इनमें हो सकते हैं; किन्तु वर्तमान कानूनों के स्रोत के रूप में इनका उद्धरण देने से ये महिमामंडित हो जाती हैं, जबकि विषमतामूलक अनेक गर्हित व्यवस्थाएँ भी इनमें देखी जा सकती हैं। स्वातंत्र्योत्तर भारतीय संविधान की अनेक व्यवस्थाएँ स्मृतिप्रदत्त व्यवस्थाओं के विरोध में हैं, अतः स्मृतिजन्य व्यवस्थाओं से चिपके रहने का कोई औचित्य नहीं रह गया है। धर्म के प्रचार-प्रसार से पहले भ्रान्तिवाली इन किताबों को न्यायालयों से, जन-मानस से हटा दें, भ्रान्तियों का उन्मूलन कर दें और भगवद्गीता प्रसारण में दे दें। जहाँ मूल सुधरा, पत्र-पुष्प-फल जैसे सभी कार्य स्वतः सही रूप में होने लगेंगे। धर्म क्या है? सत्य क्या है? इसका पालन कैसे करें? इन समस्त शंकाओं का समाधान श्रीमद्भगवद्गीता भाष्य 'यथार्थ गीता' है।

आपकी जिज्ञासा है कि धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए वेदान्त के सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार के व्यावहारिक उपाय क्या हो सकते हैं? वेदान्त आदि शंकराचार्य जी के पश्चात् गठित सम्प्रदाय है और कोई भी सम्प्रदाय, सर्व-सम्प्रदाय समन्वय का आदर्श प्रस्तुत नहीं कर सका है। प्राचीन भारतीय साहित्य को लिपिबद्ध करने का पहला श्रेय महर्षि वेदव्यास को है। चारों वेद, भागवत, महाभारत, ब्रह्मसूत्र और महाभारत भीष्मपर्व के अन्तर्गत उल्लिखित गीता उनकी प्रमुख कृतियाँ हैं। भागवत भगवान का लीलामृत है, रोचक है, प्राथमिक प्रेरणा-स्रोत है, इसलिए उन्होंने शिष्यों को भागवत पढ़ाया। गीता तो पूरी साधना है, यह प्रस्थानत्रयी का भी आधार-ग्रन्थ है। भगवान वेदव्यास ने इसे ही शास्त्र की संज्ञा दी है। इसलिए धर्म-प्रचार के लिए किसी सम्प्रदाय का नाम न लेकर आपको सर्वमान्य एक शास्त्र देना होगा। नया कुछ लिख नहीं देना है, आपके पास लिखा-लिखाया पुरातन शास्त्र गीता है। इसे आप राष्ट्रीय धर्मशास्त्र के रूप में मान्यता दें, दिलायें, घर-घर इसकी सरल व्याख्या 'यथार्थ गीता' पहुँचायें। इससे कुरीतियों, भ्रान्तियों का निवारण तथा धर्म की पुनर्स्थापना हो सकेगी।

● **धर्म और संस्कृति** : अपने नाम तथा गौरव के अनुरूप ही इस संसद ने संस्कृति की यथार्थ अवधारणा प्रस्तुत की है साथ ही वर्तमान परिवेश में संस्कृति पर आ रही त्रासदी की ओर भी ध्यान आकर्षित किया है। वस्तुतः धर्म, साहित्य, कला, विज्ञान, संगीत इत्यादि क्षेत्रों में युगों की उपलब्धियाँ संस्कृति के अन्तर्गत आती हैं, किन्तु धर्म निःसन्देह संस्कृति का प्राण है। इस धर्म की अवधारणा धूमिल होने से ही संस्कृति में विकृति आ रही है।

सः का अर्थ है वह परमात्मा। यही उद्दालक ऋषि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को समझाया, 'तत्त्वमसि'- तुम वही हो। कृति का अर्थ है कार्य। जब कृति परमात्मा से संयुक्त होकर संचालित होती है तब संस्कृति कहलाती है।

रहन-सहन, खान-पान, वेशभूषा, रीति-रिवाज, प्रथा-परम्परा सभ्यता के अंग हैं, जो देश-काल तथा परिस्थितियों के अनुरूप बदलते ही रहते हैं; किन्तु धर्म से अनुप्राणित संस्कृति शाश्वत है क्योंकि धर्म शाश्वत है। इसलिए धर्मविहीन संस्कृति केवल बाह्य आचरण और सभ्यता में सिमटकर विकृत हो रही है।

महाभारत के सभापर्व में है कि महिष्मतीपुरी में स्त्रियाँ स्वच्छन्द मैथुन जीवन व्यतीत करती थीं। पूर्वज ऋषियों ने एक पति-एक पत्नी की व्यवस्था दी, विवाह के माध्यम से। इस व्यवस्था को स्थिर करने के लिए उन्होंने धर्मशास्त्र को, एक परमात्मा को साक्षी बनाया, ज्योतिर्मय परमात्मा के प्रतीक अग्नि को साक्षी बनाया, एक व्यवस्था दी। इसी प्रकार पूर्वजों ने जीवन के हर क्रिया-कलाप को व्यवस्थित स्वरूप प्रदान किया और उसे एक परमात्मा से जोड़ा। मित्र-मित्र के प्रति भाव, भाई-भाई के प्रति भाव, पड़ोस, समाज और देश के प्रति भाव, अर्थात् जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रवेश करते समय परमात्मा के स्मरण का विधान बनाया- इसका नाम है संस्कृति।

महाभारत का ही एक अन्य प्रसंग लें। अर्जुन पितामह भीष्म की गोद में बैठे थे। पितामह ने कहा, "अर्जुन! आज शस्त्र-पूजा होगी।" अर्जुन ने प्रश्न किया, "तातश्री! क्या शस्त्र भगवान हैं जो उनकी पूजा होगी?" पितामह बोले, "नहीं रे पगले! पूजा तो भगवान की ही होगी। हाँ, इस उद्देश्य से होगी कि वे हमें शस्त्र-कौशल में पारंगत कर दें।" यही कारण है कि भारत में किसान भी हल जोतने से पूर्व हल को नमन करता है, गद्दी पर बैठने से पूर्व सेठ उसे प्रणाम करता है, अखाड़े में जाता हुआ पहलवान मिट्टी के ढेर का स्पर्श करता है, जिसका आशय मात्र इतना ही है कि हम कार्य करने से पूर्व उस परमतत्त्व परमात्मा का, जो सत्य है, नित्य है स्मरण कर लें। भगवान के स्मरण के बिना भारत में कोई कार्य होता ही नहीं। यही है भारतीय संस्कृति!

भगवान को जिस तरीके से स्मरण करना है वह गीता के अनुसार एक परमात्मा का स्मरण है; किन्तु जब से स्मृतियों की धाँधली आयी तब से लोग भूत-भवानी, असंख्य देवी-देवता, पता नहीं किस-किसका स्मरण करने लगे। यह देन भी स्मृतियों की है। संस्कृति को भी यदि सुधारना है तो आपको एक शास्त्र, एक सत्य देना ही होगा।

यह तथ्य सुविदित है कि हर स्टेट का अलग-अलग देवता है। उदाहरण के लिए, चित्तौड़ के देवता एकलिंग जी, जोधपुर की चामुण्डा देवी, बीकानेर की करणी देवी, गहरवार क्षत्रियों की गड़बड़ा देवी। इन अनन्त देवी-देवताओं में भटका हुआ भारत! इन सबकी जड़ में स्मृतियाँ हैं। स्मृतियों में लिखा है कि

देवताओं की पूजा करें। ब्राह्मण चाहे तो देवताओं को घटा सकता है, बढ़ा सकता है (अर्थात् देवता काल्पनिक हैं) इसलिए ब्राह्मण सर्वोपरि देवता है।

गत दो हजार वर्षों की अवधि में चक्रवर्ती सम्राटों को भी ज्ञात नहीं था कि जिस व्यवस्था को वे अपने सैन्य पराक्रम से संचालित कर रहे हैं, वह धर्म है भी या नहीं? धर्मशास्त्र कौन है?— यह उन्हें ज्ञात नहीं था। उन्हें ही क्यों, अधिकांश ब्राह्मणों को भी ज्ञात नहीं था कि धर्मशास्त्र कौन है? स्मृतियों में निर्देश है कि जो गर्भाधान से अन्त्येष्टि संस्कार तक का मंत्र जानता हो उसे ही यह स्मृति दिखायें अन्यथा नहीं। शिक्षा को कैदकर स्मृतिकारों ने स्मृतियों को पेटी में बन्द कर अपने जीविका के आरक्षण वाली व्यवस्था को धर्म घोषित कर तत्कालीन नरेशों के माध्यम से समाज के ऊपर थोप दिया। आज शिक्षा उन्मुक्त होते ही स्मृतियाँ जनसाधारण को सुलभ हो गयीं, ये निःशुल्क बाँटी जा रही हैं। इन स्मृतियों के होते हुए आप एक शाश्वत संस्कृति देने में सफल होंगे, इसमें सन्देह है। इसलिये इन स्मृतियों के सन्दर्भ में जन-जन को बताना होगा कि वे आई कहाँ से और उनका औचित्य क्या है? संस्कृति में आ रही विकृतियाँ इन्हीं स्मृतियों की देन है। विकृतियों के कारणों को पहचान कर उनके स्थान पर सर्वमान्य शास्त्र गीता को पुनर्प्रतिष्ठित करने से ही सांस्कृतिक विकृतियों का निराकरण संभव है। यही गीता आदि मनुस्मृति है।

● **धर्म और राष्ट्र** :- आपकी मान्यता है कि सनातन धर्म भारत का राष्ट्रीय धर्म है जिसपर आघात होते रहे हैं। इन आक्रमणों का प्रतिरोध करते हुए राष्ट्र के विभिन्न सम्प्रदायों में समन्वय के उपाय सुझायें।

देखिए, अनन्त व्यवस्थायें मनुष्य को तोड़ती हैं, केवल धर्म ही मनुष्य को जोड़ता है; लेकिन धर्म दो-चार नहीं होते। सृष्टि में भगवान एक है और भगवान को प्राप्त करने की विधि भी एक ही है। आरंभ में प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति की ओर उन्मुख है, भगवान विस्मृत रहते हैं। उस समय वह आसुरी सम्पद् से संचालित है। प्रकृति की ओर से भगवान की ओर उन्मुख होने पर दैवी सम्पद् क्रियाशील हो उठती है। जब वह इष्टोन्मुखी होता है तो उसे धारण करने की विधि एक ही है। इन्द्रियों का संयम किसी का आरम्भिक स्तर का होगा, किसी का मध्यम स्तर का होगा किसी का उन्नत, कोई प्राप्ति के समीप होगा, तो कोई प्राप्ति वाला होगा।

स्तर ऊँचा-नीचा हो सकता है किन्तु साधना दो-चार नहीं होती इसलिए अनेक धर्म या सम्प्रदायों का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में बताया कि एक ब्रह्म ही शाश्वत है। उसे ही वैदिक ऋषियों ने आत्मा, परमात्मा इत्यादि नामों से अभिहित किया है। आत्मा ही सत्य है, उसे प्राप्त करने की नियत विधि, योगविधि यज्ञ है। यज्ञ शरीर से बाहर नहीं है। उस यज्ञ को चरितार्थ करना, उसे कार्यरूप देना कर्म है। जिस उपाय से यज्ञ पूर्ण हो उस उपाय का नाम कर्म है। कर्म का अर्थ है आराधना, कर्म का अभिप्राय है चिन्तन। “अर्जुन! इस कर्म को किए बिना न सृष्टि में कभी कोई प्राप्त कर सका है न भविष्य में ही कोई प्राप्त कर सकेगा। अन्य कोई तरीका नहीं है। पूर्व में अनेक ऋषि इसी नियत कर्म पर चलकर मुझे प्राप्त हुए हैं।”

अध्याय १६ में भगवान् कहते हैं- “यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।” इस शास्त्र की विधि त्यागकर, कामनाओं से प्रेरित होकर अन्य विधियों से जो यजन करते हैं उनके जीवन में न सुख है न सिद्धि और न परमगति ही है। वह इन सबसे वंचित हो जाता है। “तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य व्यवस्थितौ। ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि।। (गीता, १६/२४)” इसलिए अर्जुन! तुम्हारे कर्तव्य और अकर्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण है।

कौन-सा शास्त्र? किसी अन्य की कल्पना में न उलझें। भगवान् ने स्वयं शास्त्र बताया, “इति गुह्यतमं शास्त्रं इदमुक्तं मयानघ।” अर्जुन! यह गोपनीय से भी अतिगोपनीय शास्त्र मेरे द्वारा कहा गया। इसे जानकर तू सम्पूर्ण अनुभूति, सदा रहनेवाली समृद्धि और परमश्रेय को प्राप्त करोगे। भगवान् वेदव्यास ने कहा, गीता आपका शास्त्र है, “गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।” और भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा, “मेरे द्वारा प्रसारित।” चौथे अध्याय में उन्होंने बताया, यही है अनादि शास्त्र। यहाँ स्पष्ट करते हैं कि इसके सिवाय अन्य कोई विधि भी नहीं है, तो असंख्य नश्वर देवी-देवताओं की पूजा कहाँ से प्रचलित हो गयी? इससे राष्ट्र असंख्य कबीलों में बँट गया है। प्रत्येक कबीला अपने देवताओं में सिमटकर एक-दूसरे की निन्दा कर रहा है। सनातन पर यह प्रहार

स्मृतिजन्य है। गीता के होते कोई मत-मतान्तर खड़ा ही नहीं हो सकता। गीता को हटाकर ही हम सम्प्रदाय खड़ा कर सकते हैं, इसलिए आप गीता को शास्त्र के रूप में पहचानें। फिर आप छूने-खाने से नष्ट नहीं होंगे। आज भी पूरा भारत छूने-खाने की विभीषिका से बाहर नहीं निकल पाया है, इसके लाखों-करोड़ों उपदेशक आज भी हर गाँव में विद्यमान हैं, उनके रहते आप सफल नहीं हो सकते। अतः विकृति के मूल कारण स्मृतियों को तिलांजलि देकर गीताभाष्य 'यथार्थ गीता' का प्रसारण घर-घर पहुँचायें, तभी राष्ट्रीय एकता सम्भव है।

● **धर्म और विज्ञान** : आपने धर्म और विज्ञान में सम्बन्ध जानने की जिज्ञासा की है तथा जड़ विज्ञान या भौतिक विज्ञान को धर्म विज्ञान का सहायक और पूरक रूप में संदर्शित करने का आग्रह किया है।

वस्तुतः विज्ञान एक यौगिक शब्द है। भगवान् श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं- इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे। ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्षसेऽशुभात्॥ (गीता, ९/१) "अर्जुन! ईर्ष्यारहित तेरे लिये मैं इस परमगोपनीय ज्ञान को विज्ञानसहित कहूँगा, जिसे जानकर तू संसार-समुद्र से भली प्रकार पार हो जायेगा।" अर्थात् विज्ञान कोई ऐसी वस्तु है, जो संसार-समुद्र से पार लगाती है। आज जिसे आप भौतिक विज्ञान कहते हैं, उसने ऐसे उपकरण भी प्रस्तुत किये हैं जिनसे सम्पूर्ण सृष्टि ही नष्ट हो जाय। यह विज्ञान नष्ट करता है, वह मोक्ष देता है। भौतिक आविष्कारों को भारतीय साहित्य में 'आसुरी माया' की संज्ञा दी गयी है।

सामाजिक विकास प्रकाश में भी आपके पूर्वज कभी पीछे नहीं थे। महाभारत का प्रसंग है- सिन्धुराज जयद्रथ, द्रौपदी का अपहरण कर भाग रहा था। उसके शोध में संलग्न अर्जुन को एक वृद्ध सज्जन ने बताया कि कोई राजा किसी स्त्री का अपहरण कर भागा जा रहा है। उसके साथ उसकी सेना भी है। अर्जुन ने पूछा, "वह कितनी दूर गया होगा?" वृद्ध सज्जन ने बतलाया, "वह इन पहाड़ों के उस पार लगभग एक कोस (तीन किमी.) दूर निकल गया होगा।"

तत्काल अर्जुन ने दिव्य अस्त्र का संधान किया और जयद्रथ को लक्ष्य कर उसे छोड़ दिया। जयद्रथ का रथ चूर-चूर हो गया, घोड़े धराशायी हो गये,

फौज मारी गयी; किन्तु द्रौपदी और जयद्रथ को खरोंच भी नहीं लगी। भीम ने जयद्रथ की गर्दन पकड़ उसे युधिष्ठिर के समक्ष पटक दिया। आज भी कोई है ऐसा आविष्कार?

भारतीय मनीषियों की भाषा में मानव मात्र दैवी या आसुरी सम्पद् से संचालित होता है। जो प्रकृति की ओर उन्मुख करे, आसुरी सम्पद् कहलाती है। प्रकृति तक ही जो हमें सीमित रखती है, आसुरी माया है। दैवी सम्पद् से संचालित योगमाया, विद्यामाया ही विज्ञान है। साधना इतनी उन्नत हो कि भगवान सुनवाई कर लें। आत्मा से अभिन्न होकर परमात्मा जागृत हो जाय, मार्गदर्शन करने लगे, अँगुली पकड़ कर चलाने लगे- यह बेतार के तार का प्रसारण विज्ञान है। इस जागृति के पश्चात् साधक निश्चित ही भवसागर से पार हो जायेगा। बीच में प्रकृति में कोई ऐसा यंत्र नहीं कि उसे नष्ट कर दे या विचलित कर दे। इस प्रकार वास्तविक विज्ञान का धर्म से सदैव तादात्म्य ही है, विज्ञान का धर्म से समन्वय का प्रश्न ही नहीं उठता।

आप ज्यों-ज्यों गीता के अनुसार धर्म का आचरण करेंगे, श्रद्धापूर्वक गीताभाष्य 'यथार्थ गीता' का चार बार पाठ कर लें, तदनुसार अभ्यास आरम्भ कर दें। जहाँ श्रद्धा से डोर लगी, भगवान आपके हृदय से ही जागृत होकर मार्गदर्शन करने लगेंगे, विज्ञान का किञ्चित् आभास आपको मिलने लगेगा और जब सद्गुरु मिल जायेंगे तो विज्ञान की सम्पूर्ण धारा आपके हृदय में प्रवाहित हो जायेगी जो मोक्ष प्रदान करके ही शान्त होगी।

विज्ञान की अनुभूति के लिए धर्म की सही तालिका आवश्यक है। अभी तक इन समस्त समस्याओं के न सुलझने का कारण था कि हम सभी आधारहीन चल रहे थे। आपका आधार भगवान् श्रीकृष्णोक्त गीता है। धर्मशास्त्र के रूप में इसे अपनायें, आगे बढ़ायें। लोक में समृद्धि और परमश्रेय का विज्ञान, भगवान के श्रीमुख की वाणी गीता को 'राष्ट्रीय धर्मशास्त्र' घोषित करें।



प्रश्न २७ :- आर्य क्या है?

उत्तर :- अंग्रेज इतिहासकार भारत के इतिहास को आर्यों का इतिहास तो मानते हैं, लेकिन उनका कहना है कि आर्य भारत के रहनेवाले नहीं थे

बल्कि भारत के बाहर से, यूरोप की ओर से आये थे। आर्य गोरे थे, अंग्रेज भी गोरे हैं, अतः अंग्रेज ही शुद्ध आर्य हैं; म्लेच्छ नहीं।

यह देश सदैव विदेशियों द्वारा जीता गया, अतः अंग्रेज राज्य करने आये तो बुरा क्या है? अंग्रेज यह भी कहते हैं कि आर्यों के आने से पहले भारत में असभ्य काले लोग रहते थे, आर्यों ने उनको दक्षिण भारत की ओर खदेड़ दिया। सिन्धु नदी के किनारे सभ्य लोगों की पुरानी बस्तियाँ खुदाई में आर्यों तो अंग्रेजों ने कहा कि अपवाद रूप में कुछ काले लोग सभ्य हो गये थे इसीलिए इस सभ्यता को आर्यों से भिन्न माना जाता है और इसे केवल 'सिन्धु घाटी की सभ्यता' कहते हैं। सिन्धु घाटी में कोई मंदिर नहीं मिला और जो कहते हैं कि लाखों शिवलिंग मिले हैं, वे वास्तव में मूसल, लोढ़े, सिल-बट्टे हैं- ऐसा अर्नेस्ट मैके ने लिखा है। आर्य और अनार्य का प्रश्न खड़ा करके दक्षिण भारत में राम का पुतला जलाया गया। अंग्रेज यह भी कहते हैं कि पहले के भारतीय इतिहास लिखना ही नहीं जानते थे। उसमें सन्-तारीख लिखा नहीं गया इसलिए पुराणों में वर्णित इतिहास गप्प है, जबकि भारतीय ग्रन्थों में लाखों वर्ष पहले का इतिहास लिखा गया है। बहुत से अंग्रेज संस्कृत को देवभाषा नहीं, गँवारू (डेड लैंग्वेज) कहते हैं। वेद को गड़ेरिये का गीत मानते हैं। मतलब वेद और बिरहे में कोई अन्तर नहीं है। ये शंकर जी नहीं, लोढ़े हैं। वे हमारी दृष्टि में हमारी संस्कृति को गिराना चाहते हैं।

भारतीय इतिहास के विषय में अनेक भ्रान्तियाँ हैं, इसमें सन्देह नहीं है। इतिहास लेखन की ही बात लीजिए। हमारा इतिहास वेद में है, पुराणों में है, जिसे अंग्रेज इतिहास मानने को तैयार ही नहीं हैं।

प्रश्न यह उठता है कि पहले का इतना अधिक हमारा लिखित इतिहास कहाँ है? तो आप जानते हैं कि शान्ति-प्रिय भारतीयों के साहित्य अनेकानेक आक्रमणों में जलाये जाते रहे। विश्वविख्यात नालन्दा विश्वविद्यालय का पुस्तकालय तीन वर्ष तक लगातार जलता रहा। पहले पुस्तकें बड़े परिश्रम से लिखी जाती रहीं। आजकल की तरह प्रेस-साधन नहीं थे, अतः उनको पुस्तकालयों में सुरक्षित रखा जाता था। हूणों ने, मुसलमानों ने, आक्रमणकारियों ने सारा साहित्य ही समाप्त करने का प्रयास किया। वेद, पुराण, रामायण,

महाभारत इत्यादि जो गिने-चुने ग्रन्थ बचे रह गये हैं, वे तो लोगों को याद रहने के कारण और घर में लिपि पड़ी रहने के कारण बच गये।

यह बात अलग है हमारे साहित्य को अंग्रेज इतिहास की संज्ञा नहीं देते। उनकी दृष्टि में जब तक किसी घटना की तारीख और सन् न हो तब तक इतिहास कैसा? तारीख लिखना तो अंग्रेजों ने दो हजार वर्ष से सीखा, यहाँ तो अरबों वर्ष का इतिहास है। हमारे पूर्वज इतने तुच्छ स्तर पर सोचते भी नहीं थे।

जिस प्रकार सूर्य अनन्त है, पृथ्वी अनन्त है, उसी प्रकार समय भी अनन्त है। इस अनन्त समय को महीनों और वर्षों में गिनना उसी तरह हास्यास्पद है जैसे समुद्र की जलराशि को मापने के लिए लीटर की इकाई निर्धारित करना, इसीलिए हमारे पूर्वजों ने लाखों वर्षों के कलियुग, द्वापर, त्रेता और सतयुग इन युगों के पैमाने से काल-गणना की इकाइयाँ निश्चित कीं, युगों की कल्पना कीं, जो ब्रह्मा का एक दिन भी नहीं है। इसीलिए उन्होंने सन्, सम्वत्, तारीख जैसे छोटे पैमानों का उपयोग इतिहास लेखन में नहीं किया। चाणक्य ने अर्थशास्त्र में लिखा है कि इतिहास के अन्तर्गत पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र सभी आते हैं। पुराण का अर्थ ही पुरानी घटनाएँ हैं। अतः भारतीय आर्षग्रन्थों में निहित हमारा इतिहास सर्वथा प्रामाणिक है।

इतिहासकारों का यह कहना भी ठीक नहीं है कि आर्य बाहर से आये और काले रंगवाले भारत के आदिम निवासी हैं। उनका यह कहना भी धूर्ततापूर्ण है कि आज भारतीय न तो आर्यों की तरह गोरे रह गये न द्रविड़ों की तरह काले, बल्कि देशी-विदेशी लोगों के मेल से पैदा होने के कारण अपने रक्त की शुद्धता का दावा नहीं कर सकते। वस्तुतः रंग का निर्धारण जलवायु से होता है। अक्षांश और देशान्तर के विपुल विस्तार के कारण भारत में तीन प्रकार की जलवायु पायी जाती है- शीत, उष्ण और समशीतोष्ण। ठण्डे प्रदेश कश्मीर के निवासी गोरे हैं। दक्षिण भारत में अधिक उष्णता है, इसलिए वहाँ के निवासी काले हैं। उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, जहाँ दोनों प्रकार की जलवायु का टकराव है, वहाँ रहनेवालों का रंग गेहुआँ है। वस्तुतः सभी प्रकार के 'कलर' भारत में पाये जाते हैं और सब के सब आर्य हैं।

जहाँ तक आर्यों के विदेश से भारत आने का प्रश्न है, आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व का विदेशी यात्री मेगस्थनीज लिखता है, “सिकन्दर से पहले न तो किसी देश ने भारत पर आक्रमण किया था और न भारत ने ही किसी देश को गुलाम बनाया। किसी भी देश ने भारत में अपनी बस्ती नहीं बसायी। भारत के सभी निवासी यहीं के मूल वंशज हैं।” मेगस्थनीज के समय में किसी को यह ज्ञात नहीं था कि भारतीय बाहर से आये हैं और ढाई हजार वर्ष बाद अंग्रेजों ने खोज की कि आर्य बाहर से आये हैं, जबकि अंग्रेज जाति स्वयं ढाई हजार वर्ष की भी नहीं है।

जो लोग यह कहते हैं कि “बाहर से आनेवाले आर्यों ने उत्तर भारत पर अधिकार कर काले द्रविड़ों को दक्षिण खदेड़ दिया और अपने एजेन्ट राम-लक्ष्मण को भेजकर दक्षिण भारत के नेता रावण को कटवाकर फेंक दिया।” उनका यह कथन भी राजनीति प्रेरित एवं दुरभिसन्धिपूर्ण है। राम से भी पहले सुग्रीव, बालि इत्यादि के पूर्वज तथा केरल-मद्रास तक विस्तृत उनके राज्य के निवासी भी आर्य ही थे। राम-रावण युद्ध हो रहा था। कुम्भकरण को देख जब बानरी सेना भागने लगी, तब अंगद भागकर सेना के मुहाने पर आया और उपदेश देने लगा, “बन्धुओ! हमलोगों के पूर्वजों ने बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ जीती हैं। हम लोग आर्य हैं, आज पीठ दिखाने पर अनार्य कहलायेंगे।” देखें, बालि और सुग्रीव का खानदान शुद्ध आर्य था। समुद्र तटवासी बानरी सेना आर्य थी। राम तो बाद में पहुँचे। आर्य का तात्पर्य है, जो सत्य से पीछे नहीं हटता, जो कर्तव्य से च्युत नहीं होता। कनक मृग के पीछे-पीछे जब राम चले गये, उसे मारा तो मृगरूपधारी कपटी मारीच ने राम के स्वर में लक्ष्मण को पुकारा। सीता सुनते ही विकल हो गयीं। बोलीं, “कपटी लक्ष्मण! तू भाई की भक्ति जता कर पीछे लग गया, अयोध्या से ही मैं तेरे स्वभाव को ताड़ रही थी। तू सोचता था कि वनवास में राम कहीं मारे गये तो सीता को मैं प्राप्त कर लूंगा। कपटी लक्ष्मण! तूझे धिक्कार है। अनार्य लक्ष्मण! तुझको धिक्कार है।” स्पष्ट है कि वह पुरुष अनार्य है जो सत्य-पथ से विचलित हो जाता है। जो सत्य पर आरूढ़ रहता है उसे ही आर्य कहते हैं। जहाँ-जहाँ सत्य से च्युत होने का प्रश्न आया, वहाँ अनार्य शब्द का प्रयोग हुआ है।

वाल्मीकि रामायण का ही प्रसंग है कि एक बार रावण ने अपनी वेधशाला में राम का कृत्रिम सिर बनवाया, लाकर सीता के सामने फेंक दिया, बोला— "ले अजेय राम! मर्यादा राम! यह ले अपना राम! देख हमारा सेनापति प्रहस्त गया और सिर काटकर ले आया। अब तो मानोगी हमको!" सीता ने खून से लथपथ राम का सिर देखा, विलाप करने लगीं, 'मुझ अनार्या को धिक्कार है जो आपको न प्राप्त कर सकी। सिद्ध है कि मेरे सत्य में कोई कमी थी।' सिद्ध है कि आर्य वह है जो सत्य पर आरूढ़ रहता है। आर्य एक निष्ठा है, एक गुणवाचक कसौटी है। प्रत्येक मानव इस कसौटी पर पहुँच सकता है।

महाभारत का प्रसंग है। जब दुर्योधन की जाँघ टूट गयी, तब बड़ी कठिनाई से लम्बी साँस खींचते हुए दुर्योधन बोला, "ओ कंस के दास के बेटे छली कृष्ण! तुमको धिक्कार है। तुम्हीं ने छल करके द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण और मुझ दुर्योधन को मरवाया है, अन्यथा पाण्डव तो क्या, विश्व की कोई भी शक्ति हमारी सेना को जीत नहीं सकती थी। शिखण्डी को आगे करके तुमने भीष्म की हत्या करायी। क्या मैं इसे नहीं जानता? ताल ठोंककर भीम को मेरी जाँघ पर प्रहार करने का संकेत तुमने किया, क्या यह भी मुझसे छिपा है? अनार्य कृष्ण! तुमको धिक्कार है।"

यहाँ दुर्योधन ने कृष्ण के लिए 'अनार्य' शब्द का प्रयोग किया। स्पष्ट है कि सत्य से हटकर असत्य के आश्रित होनेवाला ही अनार्य है। आर्यत्व गुण है, जाति नहीं। आर्य शब्द का अर्थ श्रेष्ठ होता है। यह शब्द संस्कृत के 'ऋ' धातु से निकला है, जिससे ऋत् शब्द बना है। 'ऋ' का अर्थ तीक्ष्ण तथा काटने वाला तथा 'अर' हठपूर्वक काटने को कहते हैं। जो चिन्तन-पथ की बाधाओं को हठपूर्वक काटता है, उसे आर्य कहते हैं। 'अरः यम' अर यम को भी कहते हैं। पातंजल योगदर्शन में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह पाँच यम हैं। इस यम-पालन में आने वाली रुकावट को काटने में जो सक्षम है वही आर्य है।

इस प्रकार आर्य शब्द गुणवाचक है, जातिवाचक नहीं है। यह रंग-भेद पर आधारित नहीं है। जो लोग यह कहते हैं कि "उत्तर भारत के निवासी आर्य बाहर से आये, दक्षिण के काले द्रविड़ भारत के मूल निवासी हैं।"— ऐसा केवल समाज में दरार डालने के लिए, भारत में फूट डालने के लिए कहते हैं।

वास्तविकता यह है कि दक्षिण भारतवाले रावण की वंश-परम्परा में नहीं हैं। वे अंगद और सुग्रीव की संतानें हैं, जो आर्य थे। स्वयं रावण के पिता, पितामह सभी आर्य थे; किन्तु आर्यगुण से च्युत होने के कारण रावण असुर बन गया। इसी प्रकार देखा जाये तो दक्षिणवालों ने ही रावण को मारा। उत्तर भारत की तो एक चुहिया तक नहीं मरी थी, एक सैनिक भी उत्तर भारत का नहीं था। राम को तो सीता की शोध में जाना ही था।

दक्षिण के लोग रावण से त्रस्त हो चुके थे। राम ने केवल उनका संगठन खड़ा कर दिया। वस्तुतः उत्तरी और दक्षिणी भारत के निवासी आर्य-परम्परा के ही हैं। इतना ही नहीं बल्कि जापान, चीन, मध्येशिया, अमेरिका इत्यादि जिन देशों में गौतम बुद्ध की परम्परा गई, गुरु नानक के उपदेश गये, आर्य-संस्कृति का प्रचार-प्रसार हुआ, सब के सब आर्य हैं, सत्य की ओर अग्रसर हैं। यह अवश्य है कि सर्वत्र सभी आर्य ही नहीं हैं, आसुरी विचारधारा के लोगों का अस्तित्व भी सदैव रहा है।

वस्तुतः दैवी प्रकृति हमारी थी। दूसरी संस्कृतियों को, दूसरे देशों को यह गौरव कभी किसी ने नहीं दिया। अतः यह मानने का प्रश्न ही नहीं उठता कि हम बाहर से आये। आर्य-संस्कृति का गढ़ तो भारत है। विश्व ने जो कुछ सीखा है वह भारत की ही देन है। साधना के प्रारम्भ में ईसा भी योग सीखने भारत आये थे- ऐसा तिब्बत के पुस्तकालय की प्राचीन पुस्तकों से प्रमाणित हुआ है। बाइबिल में 'चिलचिलाती धूप में खेलनेवाले नंगे बच्चे', 'पानी भरती पनिहारिनें', आम की अमराई का वर्णन है, जिसे इंग्लैण्ड या जेरुसलम में पले लोग स्वप्न में नहीं सोच सकते। स्वयं 'ईसा' शब्द भारतीय शब्द ईश, ईश्वर की नकल है। ईसा को मसीहा कहा जाता है। मसीहा वैद्य को कहते हैं। गुरु ही सबसे बड़ा वैद्य है जो भवरोग से बचा लेता है, इसीलिए मिशनरियों में गाया जाता है- "ईसू मसीह मेरे प्राण बचैया।" वस्तुतः यह सभी भारतीय दर्शन से प्रभावित हैं और कहा तो यहाँ तक जा सकता है कि विश्व में जो कुछ श्रेष्ठ है, वह आर्यभूमि भारत की ही देन है। सही आत्मिक उपलब्धि के लिए भारत जगद्गुरु था और रहेगा। यह बात अलग है कि भारतीय शान्तिप्रिय दैवी सम्पत्ति में जीवन बितानेवाले थे, जबकि विदेशी आक्रमणकारी क्रूर और

हिंसक थे। इसीलिए समय-समय पर भारत को गुलाम बनना पड़ा, न कि विदेशी शक्ति में अधिक थे। यही कारण है कि भारत और उसकी विरासत सर्वथा नष्ट कभी नहीं हुई। जब भी अपने शौर्य का स्मरण हुआ, भारत पुनः जागा और पुनः अपने उसी स्थान पर पहुँच गया इसीलिए भारत आज स्वतंत्र है। विदेशियों की अनेक चालों के बावजूद भारतीय संस्कृति, आर्य-संस्कृति अक्षुण्ण है। वैसे तो आर्यजन सर्वत्र विद्यमान हैं लेकिन आर्यगुणधारी मनुष्यों की बाहुल्यता के कारण समग्र भारतभूमि को ही मूल आर्यभूमि के रूप में जाना जाता है। इस आर्यत्व की उपलब्धि के लिए महर्षियों का सत्संग आवश्यक है। इस प्रकार, जो सन्मार्ग पर दृढ़तापूर्वक आरूढ़ है, वही आर्य है। इसीलिए हमारे पूर्वज महापुरुषों की घोषणा थी कि 'कृण्वन्तु विश्वमार्यम्'— पूरे विश्व को आर्य बना डालो।



प्रश्न २८ :- योग क्या है?

उत्तर :- वर्तमान काल में अनेक विशेषणों के बीच योग अपना मूल आशय खो चुका है। लोग ऐन्द्रजालिक कौशल को योग कहते हैं। मारण, उच्चाटन, वशीकरण इत्यादि की ओर ही इनके प्रचारकों का विशेष ध्यान रहता है। अस्वाभाविक क्रियाओं तथा यंत्र, मंत्र, ताबीज, कवच इत्यादि द्वारा कर्मफल खण्डन करने का दावा कतिपय योगी करने लगे हैं। सचमुच के योगी ईश्वर-चिन्तन में इतने तन्मय हो जाते थे कि वे शरीर की ओर ध्यान ही नहीं दे पाते थे। बालों में जटाएँ बन जाती थीं, शरीर पर धूल-मिट्टी जम जाती थी, किन्तु आजकल लोग कृत्रिम जटाएँ बना लेते हैं। ईश्वर-पथ प्रेम, चिन्तन और विरह का पथ है, किन्तु देश-विदेश में 'योगा' के नाम पर मात्र आसनों का प्रचार, कुण्डलिनी जागरण, ध्यान शिविर, प्राणायाम प्रशिक्षण का प्रचलन देख प्रतीत होता है कि वर्तमान समाज 'योगदर्शन' के प्रणेता महर्षि पतंजलि के योग के आशय से वंचित होता जा रहा है।

योग शब्द 'युज्' धातु में 'धञ्' प्रत्यय लगाने से निष्पन्न होता है। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार युज् धातु तीन गणों में पायी जाती है - (१) युज् समाधौ दिवादिः आत्मने पदी, (२) युजिर योगे रुधादिः उभयपदी और (३) युज्

संयमने चुरादिः परस्मैपदी। इस प्रकार योग का अर्थ क्रमशः समाधि, जोड़ और संयमन होता है।

प्रसिद्ध संस्कृत कोश 'अमरकोश' में है- "योगः सन्नहनोपायः ध्यान संगति युक्तिषु"-योग ध्यान की संगति है, ध्यान की युक्ति है। "सन्नहन"- उस ध्यान में संघर्षशील होना योग है। वैद्यक में नुस्खे (उपाय) को भी योग कहते हैं। ध्यान द्वारा चित्त को एकाग्र करना योग है। दो वस्तुओं की संगति अर्थात् मेल को योग कहते हैं।

साधारण जन योग को वह अभ्यास मानते हैं, जिससे कोई अलौकिक सिद्धि मिल जाय। जिससे ऐसे कार्य किये जा सकें, जो साधारण मनुष्य की शक्ति से बाहर हों।

ऋग्वेद, पंचम पण्डल, सूक्त इक्यासी की पहली ऋचा में है-

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य वृहतो विपश्चितः।

वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्ठातिः॥

विप्र अर्थात् ज्ञानीजन बुद्धि और ज्ञान के स्रोत परमात्मा में 'मनः युञ्जते'- अपना मन लगाते हैं और 'धियः युञ्जते'- उसी में बुद्धि लगाते हैं। वही 'एकः इत देव'- एकमात्र देव है, सब कुछ जाननेवाला है, यशों को धारण करता है, उसकी स्तुति महान् है।

इस प्रकार वैदिक संहिताओं में योग का आशय मन को परमात्मा में लगाना है।

योग अनादि है। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता के चतुर्थ अध्याय के आरम्भ में कहा- "इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।" इस अविनाशी योग को मैंने विवस्वान् (सूर्य) के प्रति कहा। "स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।" (४/३) वही पुरातन योग अब मैंने तेरे लिए वर्णन किया है। इस प्रकार गीता योगशास्त्र है। जिसमें भगवान् ने योग के लिए राजयोग, हठयोग, सुरति योग, लय योग जैसे विशेषणों का प्रयोग न कर मात्र 'योग' शब्द को ही समग्रता से लिया है।

'यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः। गीता उन्हें महायोगेश्वर कहती है।

गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं- अर्जुन! 'योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।' (६/४७) योगियों में भी वह योगी मुझे अत्यन्त प्रिय है जो अन्तरात्मा से मुझे भजता है और निरन्तर मुझमें लगा हुआ है अर्थात् मन, वचन, कर्म से एक परमात्मा में लगने का नाम योग है।

गीता में भगवान कहते हैं-

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥९/२२

अनन्य अर्थात् अन्य न, मेरे अतिरिक्त अन्य किसी को न भजता हुआ जो केवल मुझे भजता है ऐसे निरन्तर मुझसे संयुक्त भक्त के योगक्षेम का भार मैं स्वयं वहन करता हूँ अर्थात् अनन्य भाव से भगवान में लगने का नाम योग है।

गीता के अनुसार योग में लगने की विधि क्या है?-

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।

मूर्ध्न्याधायान्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥८/१२

सम्पूर्ण इन्द्रियों के दरवाजों को विषयों से समेटकर, मन को हृदय-देश में स्थिर कर, सुरत को मस्तिष्क में स्थिर कर, "ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् । यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥" (८/१३) 'ओम्' बस इतना ही उस परमतत्त्व परमात्मा का परिचायक है, उसका जप करते हुए और "मामनुस्मरन्- मेरे स्वरूप का ध्यान करते हुए जो देहाध्यास का त्याग कर देता है वह परमगति प्राप्त कर लेता है। अर्थात् एक परमात्मा के मिलन का नाम योग है। आप मिलेंगे कब?

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।

तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥८/१४

अनन्य भाव से अर्थात् अन्य किसी देवी-देवता का चिन्तन न करके जो निरन्तर मुझे भजता है, सदा मुझसे संयुक्त उस योगी के लिए मैं सुलभ हूँ। अर्थात् योग का परिणाम है भगवान का दर्शन, न कि सिद्धियों का प्रदर्शन। योग है क्या?-

तं विद्याददुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।

स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥६/२३

जो संसार के संयोग-वियोग से रहित है उसी का नाम योग है। जो अत्यान्तिक सुख है, जिसे परमतत्त्व परमात्मा कहते हैं उसके मिलन का नाम योग है।

मौर्यवंश के अन्तिम सम्राट् बृहद्रथ के निधन के पश्चात् उसके ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र शुंग का शासनकाल आया, जिसने भगवान् बुद्ध के सिद्धान्तों का खण्डन कर जन्म से निर्धारित ब्राह्मणों की पूज्यता पर आधारित चातुर्वर्ण्य व्यवस्था की स्थापना की। इस नवीन व्यवस्था की पोषक स्मृतियाँ धर्मशास्त्र के नाम से उसी काल में प्रतिष्ठित हुईं।

महर्षि पतंजलि पुष्यमित्र के समकालीन कहे जाते हैं। उस काल में धर्म की नयी-नयी व्यवस्थाओं से आशंकित हो उन्होंने योग के कल्याणपरक ज्ञान को संक्षिप्त सूत्रों में प्रस्तुत किया, जिससे भारत की प्राचीन विद्या का लोप न हो। योग के सिद्धान्तों को उन्होंने सूत्र-रूप में किन्तु स्पष्ट शब्दों में प्रस्तुत किया, जिससे प्रतीत होता है कि शब्दानुशासन व्याकरण पर उनका असाधारण अधिकार था। लोकोक्ति भी है कि भगवान् पतंजलि ने मनोवाक्काय दोष निवारणार्थ योगसूत्र महाभाष्य और चरक संहिता की संरचना की।

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।

योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतंजलिं प्राञ्जलरानतोऽस्मि॥

महर्षि पतंजलि ने योग के नाम पर नया कुछ नहीं लिखा, बल्कि वही सूत्रबद्ध किया जो गीता में है। चित्तवृत्तियों का निरोध गीता में है, “यत्रो परमते चित्तं निरुद्धं योग सेवया।” (६/२०) यमों में परिगणित अपरिग्रह गीता के “एकाकी यत चित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥” (६/१०) से लिया गया है। स्थिर सुखमासनम् (पातं० २/४६) गीता के ‘स्थिरमासन-मात्मनः’ (६/११) की पुनरुक्ति है। अभ्यास और वैराग्य से मन का निरोध (गीता, ६/३५) महर्षि पतंजलि का भी अभिमत है। ओम् का जप, वीतराग सद्गुरु का ध्यान उनके द्वारा साधना की जागृति, स्वरूप की उपलब्धि, महर्षि का सब कुछ गीता का ही रूपान्तर है।

वर्तमान काल में योग की दो प्रमुख प्रणालियाँ प्रचलित हैं- एक तो वह जो महर्षि पतंजलि के योगसूत्रों पर आधारित है और दूसरी प्रणाली हठयोग के नाम से प्रसिद्ध है। पातंजल योग 'चित्तानुशासनम्'- चित्तवृत्तियों को अनुशासित करने पर आधारित है, जबकि हठयोग का सम्बन्ध शरीर-संचालन, स्वास्थ्य एवं रोग-मुक्ति से है। पतंजलि ने मन की स्थिरता एवं सुख से बैठने को आसन कहा है, जबकि हठयोग के ग्रन्थ चौरासी से चौरासी लाख आसनों की लम्बी शृंखला देते हैं। हठयोग में नेति, धौती, वस्ति, नौली, त्राटक, कपालभांति, महामुद्रा, खेचरी, जालन्धर, उड्डियान, मूलबन्ध बज्रौली, अमरोली एवं सहजोली जैसी क्रियाएँ प्रचलन में हैं, जिनके विषय में योग-दर्शन मौन है। हठयोग प्रणाली में षट्चक्रों का भेदन करते हुए कुण्डलिनी को ब्रह्मरंध्र तक ले जाना होता है। उसमें योग के आठ अंगों के स्थान पर छः अंगों की ही चर्चा है, यम-नियमों को छोड़ दिया गया है। हठयोग के प्राणायाम में श्वासों के पूरक, कुम्भक और रेचक की प्रक्रिया पर दृष्टि रखनी होती है, जिसके कई रूप उज्जायी, भस्त्रिका, सूर्यभेदी, भ्रामरी, शीतली इत्यादि हैं। सिद्धियों को महर्षि पतंजलि ध्येय की प्राप्ति में व्यवधान मानते हैं, जबकि हठयोगी इसे योग की महत्वपूर्ण उपलब्धि मानकर इनका प्रदर्शन करते रहते हैं। कहना न होगा कि योग के नाम पर अनेक भ्रान्त धारणाओं का सृजन इन दोनों प्रणालियों को मिला देने से हुआ है अथवा यह कहना अधिक समीचीन होगा कि शारीरिक क्रियाओं को योग की संज्ञा देने से विकृतियों को प्रोत्साहन मिला है। कल्याणकारक योगविधि वही है जिसकी परम्परा वेदों से लेकर गीता तक अक्षुण्ण है, शृंगकाल में जिसे महर्षि पतंजलि ने पुनः सूत्रबद्ध किया है।

महर्षि पतंजलि ने योगदर्शन विश्व के मानव मात्र को उद्देश्य बनाकर प्रस्तुत किया है, जिसमें मानव-मात्र के अन्तःकरण में निहित दुःख के कारणों का उन्मूलन कर शाश्वत कैवल्य की प्राप्ति का मार्गदर्शन है।

योगसूत्र कठिन है और योगाभ्यास की कतिपय अवस्थाओं की पूर्ण व्याख्या उपस्थित नहीं करते। वे संक्षिप्त टिप्पणी के रूप में हैं, मानो निर्देश करते हैं कि किसी तत्त्वदर्शी सद्गुरु की शरण में जायँ।



प्रश्न २९ :- साधक का आचरण कैसा होना चाहिए?

उत्तर :- साधक को उतना ही करना चाहिए जितना कुछ सुतीक्ष्ण ने किया। वे महर्षि अगस्त्य के प्रिय शिष्य थे। जब सुना कि वनवास में पर्यटन करते हुए भगवान इसी जंगल में कहीं आये हैं तो वहीं प्रार्थना करने लगे-

हे बिधि दीन बन्धु रघुराया। मो से सठ पर करिहहिं दाय्या।।

(मानस, ३/९/४)

हे विधाता! दीनों पर दया करने वाले प्रभु! क्या मेरे जैसे शठ पर भी दया करेंगे। क्या वे मूर्ख थे? कुछ ही घंटे पश्चात् तो भगवान् मिल गये। वे सोचते हैं-

मोरे जियँ भरोस दृढ़ नाहीं। भगति विरति न ग्यान मन माहीं।

नहिं सतसंग जोग जप जागा। नहिं दृढ़ चरन कमल अनुरागा।।

(मानस, ९/९/६-७)

मेरे हृदय में दृढ़ भरोसा नहीं है, न भक्ति है न वैराग्य है और न मन में ज्ञान ही है। मुझमें न तो सत्संग है न योग है, न जप है न यज्ञ ही है और न तो चरण-कमलों में दृढ़ अनुराग ही है। क्या वस्तुतः उनमें इन गुणों का अभाव था? कदापि नहीं, वे इन सभी गुणों से सम्पन्न थे, 'मन क्रम वचन राम पद सेवक' थे। स्वप्न में भी इष्ट के अतिरिक्त किसी अन्य देवता का भरोसा नहीं करते थे। अनन्य श्रद्धा थी उनकी। किन्तु उनके उद्गारों में कितना दैन्य है, कितनी विनम्रता है।

प्रायः आजकल के महात्माओं को घर छोड़ने के चार-छः वर्ष बाद वेश तो मिल जाता है, किन्तु ज्ञान के अभाव में वंश की मर्यादा का पालन करते दृष्टिगत नहीं होते और ऐंठने लगते हैं। पाँच-सात साल में ही समझते हैं कि हम सन्त हैं। कुछ भी उनके सम्मान के विरुद्ध हुआ कि वे बौखला जाते हैं। जो वास्तव में सन्त होते हैं उनकी ऐसी दशा नहीं होती, वे विरही होते हैं। उनको कोई सन्त कहे, राजपूत कहे, अवधूत कहे अथवा जुलाहा ही क्यों न कहे, उनके चित्त पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उनका चित्त अपने इष्ट-सम्बन्धी तथ्यों के अतिरिक्त कुछ ग्रहण ही नहीं करता। वास्तव में अनुरागी के लिए ही इस पथ का विधान है।

साधक का आचरण भरत-जैसा होना चाहिए। राम वनवास में गये तो भरत विकल होकर उनका पीछा करते चित्रकूट पहुँच गये। राम नहीं लौटे तो खड़ाऊँ प्राप्त हुई। चरण पादुका मस्तक पर रखकर भरत अवध आये। राजपाट देखना तो दूर की बात थी, नन्दी ग्राम में एक कन्दरा बनवायी और उसके अन्तराल में बैठ गये। उस खड़ाऊँ का ध्यान करते हुए अश्रुपूर्ण नेत्रों से रात-दिन बिताने लगे।

हनुमान संजीवनी बूटी ला रहे थे, उसी रास्ते से निकले, तब भी भरत उन्हें विकल की तरह दिखाई पड़े। हनुमान रास्ते भर प्रभु-चरणों में उनके अपार अनुराग की सराहना करते रहे। इतना ही नहीं, अपितु चौदह वर्ष पश्चात् प्रभु-आगमन की सूचना देने हनुमान आये तो उसी दशा में भरत को पाया। राम ने कहा था, “जाओ, अयोध्या में भरत को सूचना दे दो कि हम आ रहे हैं, अन्यथा कहीं वह प्राण न त्याग दें।” पूज्य परमहंस महाराजजी से लोग जब पूछते कि महाराजजी क्या भगवान मिलते हैं? तब महाराजजी कहते थे, “हाँ हो! काहे न मिलिहैं। यदि अनुरागी को भगवान न मिलिहैं त ऊ मरि न जाई। ऊ प्राण दे देई। मोके मिली के तो स्थिति दिये हैं।” साधक का विरह इतना तीव्र होना चाहिए। हनुमान ने भरत की दशा देखी-

बैठे देखि कुसासन, जटा मुकुट कृस गात।

राम राम रघुपति जपत, स्रवत नयन जल जात।।

(मानस, ७/१ख)

चौदह वर्ष पूर्व भरत की जो दशा थी, उससे भी प्रेमार्द्र दशा में हनुमान जी ने उन्हें देखा। कुश के आसन पर बैठे, जटा का मुकुट, गात कृश है। 'राम राम रघुपति' यही जप चल रहा है। हृदय में स्वरूप है, आँखों में अश्रुपात्। ऐसा देखकर हनुमान जी बहुत हर्षित हुए। रोमांच हो आया, अश्रुपात् होने लगा, मन में बहुत सुख माना। अनुरागी भक्त अपने से भी अच्छे अनुरागी को देखकर प्रसन्न होता है, न कि उसे जलन होती है। हनुमान ने अमृत के समान वचन कहा, “जिनके विरह में दिन-रात सोचते रहते हो, जिनके गुणों की पंक्तियाँ निरन्तर रटते रहते हो, वही राम आ रहे हैं।” इतना सुनते ही भरत के सारे दुःख दूर हो गये, मानो प्यासा अमृत पा गया। भरत बोले, “यह ऐसा संदेश है

जिसकी समता का संसार में कुछ है ही नहीं।” इष्ट की उपलब्धि ही साधक का सर्वस्व है। वह कभी नहीं भूलता कि इसी के लिए तो वह साधक बना है। अतः पूर्तिपर्यन्त साधक के विरह, वैराग्य, विकलता में न्यूनता तथा शिथिलता नहीं आनी चाहिए। भरत और सुतीक्ष्ण के चरित्र से अपने चरित्र को नहीं जोड़ना चाहिए, उनसे प्रेरणा लेकर अपने को उसी आचरण में ढालना चाहिए। हवा भर भी इष्ट से फासला है, तो भी अपने को साधक ही मानना चाहिए। अनुनय-विनय एवं विकलता में उत्तरोत्तर उत्कर्ष होना चाहिए। इष्ट से सूत भर भी अन्तर है और साधक उस कमी को पूरा करने के प्रयत्न में ढील देता है, तो माया आवृत्त कर सकती है। इस जरा-सी दरार के लिए जड़ भरत को तीन जन्म लेना पड़ा। रंचमात्र ही सही, दूरी तो दूरी ही है। बहुत दूर से दौड़कर आने वाला यदि हताश होकर गंगा से दो हाथ ही दूर बैठ जाय तो गंगाजल का उसके लिए क्या उपयोग? दो हाथ की दूरी से ही तो वह प्यासा मर रहा है। वह दूरी ही उसके लिए योजन है, कणमात्र का अवरोध ही पहाड़ है। परन्तु साधकों को ऐसा समझकर हताश नहीं होना चाहिए कि भगवत्पथ में विघ्न ही विघ्न हैं, कौन इतना झंझट पाले? वस्तुतः भक्तिपथ में कठिनाई कुछ भी नहीं है, पार तो निश्चित है। हाँ, उत्तम साधक को विरह-वैराग्य में न्यूनता नहीं लानी चाहिए।

“सच्चे साधु के लिए सर्वत्र मंगल है। दिखावटी साधु नहीं बनना चाहिए। भगवान ही कुछ बना दें तो बात अलग है। साधक के सुरति की डोरी न टूटने पाये तथा दम्भ न होने पाये तो सब ठीक हो जाता है।” - अपने शिष्य को ऐसा उपदेश देते हुए एक विचरणशील महात्मा ने कहा, “बेटा! अपने से कुछ न बनना।” शिष्य ने आज्ञा शिरोधार्य की। कुछ दूर चलने के पश्चात् सड़क के पार्श्व में सुरम्य उद्यान दिखाई पड़ा। शिष्य के आग्रह पर महात्मा उस उद्यान में गये, उपवन के जन-शून्य भवन में पड़े एक तख्त पर अपना आसन लगाया। शिष्य भी पार्श्ववर्ती कक्ष में पड़ा रहा।

उपवन किसी राजा का था, जो यदा-कदा वहाँ विश्राम करने आ जाता था। संयोग से राजा भी उसी समय आ गया, जिस समय उसके कक्ष में गुरु-शिष्य विश्राम कर रहे थे। सिपाहियों ने लपककर शिष्य को डाँटा, “कौन हो? जानते नहीं कि यह महाराजाधिराज का विश्रामालय है?” शिष्य ने कहा, “मैं

साधु हूँ” सिपाही ने एक थप्पड़ मारा और अपशब्द कहते हुए बाहर ढकेल दिया। राजा दूसरे कक्ष में गये। वहाँ गुरुजी लेटे हुए थे। सिपाही दौड़कर महात्मा पर बरस पड़ा, “कौन है? महाराज के तख्त पर लेटने का दुस्साहस तुमने कैसे कर लिया?” महात्मा चुपचाप उठे और बैठ गये। अंगरक्षक ने अपना प्रश्न दुहराया, “कौन हो? यहाँ कैसे आ गये?” तब तक राजा ने कहा, “लगता है कोई महात्मा हैं, तभी तो इतने शान्त हैं। इन्हें सादर दूसरे कमरे में ले जाओ।” किन्तु विचरण-प्रिय महात्मा नहीं रुके। सड़क पर मिलते ही शिष्य ने कहा, “महाराज! हमको तो बड़ी मार पड़ी।” महात्मा ने कहा, “कुछ बने होंगे।” शिष्य ने कहा, “महाराज! उन्होंने पूछा था कि कौन हो?” मैंने कह दिया, “साधु हूँ।” महात्मा ने कहा, “साधु बन गये न, इसीलिए मारे गये।” साधु बनने की वस्तु नहीं बल्कि साधनात्मक क्रिया पकड़कर जब क्रमशः उत्थान करते-करते योगारूढ़ता की स्थिति आ जाये तो मन के निरोधकाल में साध्य वस्तु स्वतः प्रवेश पा जायेगी, साधक को उठा लेगी, साधु बना देगी। जो परमात्मा को साध लेता है, वही साधु है। ढोंग नहीं करना चाहिए।

साधना की अवधि में भयंकर विघ्न आ सकते हैं, लेकिन साधक को चाहिए कि अपनी टेक पर अडिग रहे। प्रण का सच्चा उत्साही ही इस पर चल पाता है। प्रण पर अडिग रहकर साधनारत रहने से विपत्ति भी सम्पत्ति बन जाती है। जैसा अर्जुन या महर्षि काग के जीवन में दृष्टिगोचर होता है। अर्जुन ने उर्वशी को मातृवत् ही देखा, भले ही उसे एक वर्ष के लिए नपुंसक बनना पड़ा। वह शाप भी अज्ञातवास की अवधि में सहायक सिद्ध हुआ, अर्जुन के लिए वही वरदान हो गया। कागभुशुण्डि की दृढ़ता के लिए मिलने वाले शाप के पीछे वरदानों का तांता लग गया। अतः साधक को प्रेरणा लेनी चाहिए। दुष्ट से दुष्ट व्यक्ति में भी एकाध गुण अवश्य होता है। साधक की दृष्टि केवल उसी गुण पर होनी चाहिए।

महात्मा दत्तात्रेय विचरण कर रहे थे। कुत्ता दिखाई पड़ा, किसी ने डण्डा उठाया तो भाग खड़ा हुआ, पुचकारा तो पास चला गया, टुकड़ा फेंका ले लिया अन्यथा बैठा रहा। दत्तात्रेय ने विचार किया कि यह तो गुरुओं का भी गुरु है। उससे सदगुरुओं की शिक्षा मिली कि अवधूत को सदैव मान-सम्मान

से रहित और संतोषी होना चाहिए। वैसे कुत्ते में दुर्गुण भरे पड़े हैं किन्तु दत्तात्रेय का उससे क्या प्रयोजन? अनन्त दुर्गुणों में भी एक गुण दिखाई पड़ा। उन्होंने उसी पर विचार केन्द्रित रखा।

दत्तात्रेय आगे बढ़े। एक अजगर दिखाई पड़ा। इतना मोटा कि सरक भी नहीं सकता था। दिनभर में एक फुट भी नहीं चल पाता था। उन महात्मा को कुतूहल हुआ कि यह जीता कैसे है? खाता क्या है? अतः वहीं आसन लगाकर बैठ गये। देखा, प्रतिदिन कोई न कोई खग-मृग ठीक उसके मुख के सामने पहुँच जाता था, जिसे पकड़कर वह उदरस्थ कर लेता था। अजगर की हिंसक वृत्ति से दत्तात्रेय को कुछ लेना-देना नहीं था। उसमें भी एक गुण दत्तात्रेय को दिखाई पड़ा कि अवधूत को पेट के लिए द्वार-द्वार नहीं भटकना चाहिए। अजगर की प्रशंसा करते हुए दत्तात्रेय चल पड़े कि तुममें भी गुरुओं का एक गुण देखने को मिला है। अजगर दत्तात्रेय का गुरु नहीं था, गुरुओं की विद्या तो कुछ और ही होती है, फिर भी सद्गुरु की रहनी का एक गुण अजगर में भी उन्हें दिखाई पड़ा। सम्पूर्ण भूत-प्राणियों की विभिन्न चेष्टाओं में उन्होंने अपने गुरु अथवा इष्ट को ही देखने का प्रयास किया।

सिमिटि सिमिटि जल भरहिं तलावा। जिमि सद्गुन सज्जन पहिं आवा।।

एक-एक बूँद करके तालाब भर जाता है। ठीक इसी प्रकार अधिकारी साधक एक-एक करके गुणों का संचय करता है। दूसरों का छिद्रान्वेषण करने से साधक भी उन दुर्गुणों से आक्रान्त हो जाता है। अतः साधक को सदैव सजग रहना चाहिए। किसी महात्मा अथवा सांसारिक जीव की भी निन्दा नहीं करनी चाहिए। परनिन्दा साधक के पतन का कारण भी बन जाती है- “**परनिन्दा सम अघ न गरीसा।**”

साधक को लंगोटी का सच्चा होना चाहिए। जो व्यक्ति दुराचरण से विरत नहीं हुआ है, जिसे एकान्त अच्छा नहीं लगता, जागतिक वस्तुओं के त्याग की भावना जिसके लिए असम्भव है, उसे अक्षयपद की प्राप्ति नहीं हो सकती। जिन वस्तुओं की अधिकता में मूढ़ को अनुराग होता है, उन्हीं की प्राप्ति में प्राज्ञ पुरुष को वैराग्य होता है। विषयों का त्याग दुर्लभ है, तत्त्वज्ञान की प्राप्ति दुर्लभ है तथा सद्गुरु कृपा के बिना सहजावस्था की प्राप्ति दुर्लभ है।

अतः बन्धुओ! अनुभवी सद्गुरु का सान्निध्य प्राप्त करें। मन-क्रम-वचन से उनकी शरणागति का चिरन्तन विधान है। उन महापुरुषों से अन्तःप्रेरणा के स्रोत मिलने लगे, साधक की आत्मा में जागृत होकर वे महापुरुष हृदय में निर्देश देने लगे, तब समझना चाहिए कि साधना का अन्तर्प्रवेश हुआ। वह अन्तर्प्रवेश निवृत्ति का निश्चित स्रोत है। उसे जानने के लिए गुरु के पास जाना ही होगा- “तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।” ऐसा उपनिषदों का निर्देश है। उन महापुरुषों की प्राप्ति में आपका पुण्य माध्यम है। सन्त एवं सद्गुरु जिस दृष्टि से पहचान में आते हैं, वह दृष्टि ही पुण्यमयी है।



शास्त्र

परमात्मा में प्रवेश दिलानेवाले क्रियात्मक अनुशासन के नियमों का संकलन ही शास्त्र है। इस दृष्टि से भगवान श्रीकृष्णोक्त गीता सनातन, शाश्वत धर्म का शुद्ध शास्त्र है; जो चारों वेद, उपनिषद्, समस्त योगशास्त्र, रामचरित मानस तथा विश्व के सभी दर्शनशास्त्रों का अकेले ही प्रतिनिधित्व करती है। गीता मानव मात्र के लिए धर्म का अतर्क्य शास्त्र है।

परमात्मा का निवास

वह सर्वसमर्थ, सदा रहनेवाला परमात्मा मानव के हृदय में स्थित है। सम्पूर्ण भावों से उसकी शरण जाने का विधान है, जिससे शाश्वत धाम, सदा रहनेवाली शान्ति तथा अनन्त जीवन की प्राप्ति होती है।

सन्देश

सत्य वस्तु का तीनों कालों में अभाव नहीं है और असत्य वस्तु का अस्तित्व नहीं है। परमात्मा ही तीनों कालों में सत्य है, शाश्वत है, सनातन है।

- स्वामी अड़गड़ानन्द

वर्षों के लम्बे

अन्तराल के बाद

श्रीमद्भगवद्गीता की

शाश्वत व्याख्या



श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्दजी आश्रम ट्रस्ट

न्यू अपोलो एस्टेट, गाला नं 5, मोगरा लेन (रेलवे सबवे के पास), अंधेरी (पूर्व), मुम्बई - 400069
फोन - (022) 28255300 ई-मेल - contact@yatharthgeeta.com वेबसाइट - www.yatharthgeeta.com